सन्मति साहित्य
रत्न माला का
७१ वाँ रत्न

अनेकान्तवाद : एक परिशीलन



लेखक
विजय मुनि शास्त्री, साहित्य रत्न



प्रकाशक
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

लेखक
विजय मुनि शास्त्री, साहित्य रत्न
प्रकाशक
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
मुद्रक
विनोद प्रिंटिंग प्रेस आगरा
प्रथम प्रवेश
सन् १९६१
मूल्य
७५ नए पैसे

लेखक की कलम से

जैन-दर्शन की विचार पद्धति सर्वथा मौलिक है। दार्शनिक जगत में इस मौलिक विचार धारा ने विश्व के विद्वानों को एक नया दृष्टिकोण एवं एक नया दृष्टि बिन्दु प्रदान किया है। जैन दर्शन की मूलभूत इस तत्त्व चिन्तन पद्धति ने तत्त्व निर्णय के क्षेत्र में एक बड़ा अद्भुत काम किया है। अनेकान्त-दृष्टि का अर्थ है—समन्वय-दृष्टि। समन्वय के बिना मनुष्य जीवन में सुख शान्ति और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अपने विचारों का आग्रह करने बैठ जाए और जो कुछ उसने अभी तक जाना और सीखा है उसको ही सत्य माने तो बताइए सत्य का निर्णय कैसे होगा। सत्य अनन्त है। उस अनन्त सत्य को किसी एक ही दृष्टि कोण से नहीं जाना जा सकता। सत्य के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए समन्वयात्मक दृष्टि कोण परम आवश्यक है।

सन्त-संस्कृति के प्राण प्रतिष्ठापक और समन्वय सिद्धान्त के प्रणेता भगवान् महावीर ने तत्त्व विचार की एक मौलिक एवं दिव्य पद्धति जगत को प्रदान की। यही नहीं उन्होंने वस्तु के स्वरूप को समझाने की एक सापेक्ष भाषा पद्धति भी दी। उन्होंने बतलाया—विचार अनेक हैं उन विचारों

को अभिव्यक्त करने की पद्धति भी अलग अलग है। अतः यदि कोई व्यक्ति अपने विचारों का प्रकाशन, किसी पद्धति विशेष से करता है तो उसे सर्वथा असत्य नहीं कहा जा सकता। विचारों का यह अनाग्रह ही वस्तुतः समन्वय दृष्टि है अनेकान्त है और स्याद्वाद है। यह सिद्धान्त एक जीवन का सिद्धान्त है वह केवल पोथी का सिद्धान्त नहीं है। काश, आज का मानव अनेकान्त के दिव्य सिद्धान्त को अपने जीवन के धरातल पर उतार पाता।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद, सप्तभंगी और नय तथा प्रमाण एवं निक्षेप आदि गम्भीरतम विषयों पर संक्षेप में तथा बहुत स्थूल रूप में विचार चर्चा की है। अनेकान्तवाद एक परिशीलन जैसी लघु पुस्तिका में अनेकान्त जैसे गम्भीर एवं विस्तृत विषय का विवेचन कथमपि सम्भव नहीं है। जो सज्जन उक्त विषय का गम्भीर एवं विस्तृत अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए तद्विषयक साहित्य का पुस्तक के उपसंहार में उल्लेख कर दिया गया है। फिर भी इतना अवश्य है कि प्रस्तुत पुस्तक विषय-परिचय के लिए पर्याप्त है।

जैन भवन
लोहामंडी, आगरा

—विजय मुनि

समर्पण

जिनके
परम-पवित्र पाद पद्मो म,
रहकर मैंने
कतिपय ज्ञाण-कण
प्राप्त किए हैं,

उन
परम पूज्य गुरुदेव
उपाध्याय, कविरत्न
श्रद्धेय अमरचन्द्र जी
महाराज
के
कर-कमलो म
सभक्ति

– विजय मुनि

प्रकाशक की ओर से

सन्मति ज्ञानपीठ के दार्शनिक साहित्य में अन्तर्गत अनेकान्तवाद एक परिशीलन भले ही एक छोटी सी पुस्तिका हो परन्तु श्री विजयमुनि जी ने इसमें अनेकान्त जैसे गम्भीर और विस्तृत विषय को सरल एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है।

पुस्तक की भाषा और शैली से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनिश्री का अनेकान्त सिद्धान्त विषयक ज्ञान कितना सामञ्जस्य पूर्ण है। प्रथम अध्याय में विषय की स्थापना बड़े ही सुन्दर ढंग से की गई है। दूसरे अध्याय में विषय का विवेचन बड़ा ही रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है। तीसरे अध्याय में अनेकान्त से सम्बन्धित अनेक विषयों पर विचार चर्चा की गई है। हमारे विचार में प्रस्तुत पुस्तक उन छात्रों और उन जिज्ञासुओं के लिए विशेष उपयोगी है जो अनेकान्त और स्याद्वाद के विषय में कुछ सोचना, कुछ जानना और कुछ समझना पसन्द करते हैं। आशा है हमारा यह लघु प्रकाशन सर्वजन भोग्य सिद्ध होगा।

—मन्त्री
सोनाराम जैन
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

विषय रेखा

विश्व समन्वय अनेकान्त पथ
सर्वोदय का प्रतिपालनहार।
मैत्री करुणा सब जीवों पर,
जैन धर्म जग-ज्योति महान।

१

सुख की आधार-शिला अहिंसा

व्यक्ति समाज और देश के सुख और शान्ति की एक मात्र आधार शिला है—अहिंसा, मैत्री और समता। भगवान् महावीर ने अहिंसा को ही सब सुखों का मूल माना है। सुख सब को प्रिय है और दुःख सब को अप्रिय है। जो दूसरा को अभय देता है वह स्वय भी अभय हो जाता है। अभय की भव्य भावना में से ही अहिंसा और मैत्री का जन्म होता है। दूसरे से भय होता है परन्तु जब सारे जग को व्यक्ति अपना ही रूप समझने लगता है तब दूसरा रह कौन जाता है? सब उसके हैं और वह भी सब का हो गया तब द्वैत भाव कहाँ रहा? अहिंसा मानव मानव में अद्वैत भाव पैदा करता है। अतएव अहिंसा का साधक सदा अभय होकर रहता है। मैं जग का हूँ जग मेरा है—यह अहिंसा का अद्वैतात्मक दर्शन सूत्र है। मेरा सुख, सब का सुख है और सब का दुःख मेरा दुःख है—यह अहिंसा का नीति मार्ग है, व्यवहार-पक्ष है।

अहिंसा किसी भौतिक तत्त्व का नाम नहीं है, वह तो मनुष्य के मन की एक वृत्ति है। अहिंसा एक वृत्ति है, एक भावना है, एक विचार है। मनुष्य के मन की क्रूर वृत्ति हिंसा है और मनुष्य के मन की कोमल-वृत्ति ही अहिंसा है। प्रेम अहिंसा है, वैर हिंसा है। अहिंसा मनुष्य के मन का अमृत है और हिंसा विष है। अहिंसा जीवन है और हिंसा मरण है। अहिंसा त्याग है और हिंसा भोग है। अहिंसा का परिणाम है—सुख, शान्ति और समता। हिंसा का परिणाम है—दुःख, व्याकुलता और विषमता। अहिंसा धर्म है और हिंसा अधर्म है। अहिंसा एक दिव्य प्रकाश है और हिंसा घोर अंधेरा है।

२

अनेकान्त : मानस-अहिंसा

अहिंसा का एक दूसरा पक्ष भी है—अनेकान्त। अनेकान्त का अर्थ है—मानस अहिंसा। दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की भावना एवं विचार को अनेकान्त दर्शन कहते हैं। दूसरे के दृष्टिकोण और विचार के प्रति सहिष्णुता और आदर भावना के बिना अहिंसा की पूर्णता नहीं हो सकती। संघर्ष का मूल—आग्रह में है। आग्रह में अपने विचारों का मोह होता है और दूसरों के विचारों का तिरस्कार होता है। एकान्त दृष्टि में सदा आग्रह का वास होता है। आग्रह से असहिष्णुता उत्पन्न होती है और असहिष्णुता में से हिंसा एवं संघर्ष पैदा होते हैं। अनेकान्त दृष्टि अनाग्रह-मूलक होती है। अतः उसमें हिंसा और संघर्ष का भय नहीं होता। जब विश्व का कण-कण अनन्त धर्मों का भण्डार है वह विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक रूप में अनुभूति का विषय है तब अपने ही दृष्टिकोण को सत्य मानने का आग्रह रखना और उसका प्रचार करना, निश्चय ही हिंसा और संघर्ष की ओर जाना है। इस हिंसा

अहिंसा किसी भौतिक तत्त्व का नाम नहीं है, वह तो मनुष्य के मन की एक वृत्ति है। अहिंसा एक वृत्ति है, एक भावना है, एक विचार है। मनुष्य के मन की क्रूर वृत्ति हिंसा है और मनुष्य के मन की कोमल-वृत्ति ही अहिंसा है। प्रेम अहिंसा है, वैर हिंसा है। अहिंसा मनुष्य के मन का अमृत है और हिंसा विष है। अहिंसा जीवन है और हिंसा मरण है। अहिंसा त्याग है और हिंसा भोग है। अहिंसा का परिणाम है—सुख, शान्ति और समता। हिंसा का परिणाम है—दुःख, व्याकुलता और विषमता। अहिंसा धर्म है, और हिंसा अधर्म है। अहिंसा एक दिव्य प्रकाश है, और हिंसा घोर अंधेरा है।

२

अनेकान्त मानस-अहिंसा

अहिंसा का एक दूसरा पक्ष भी है—अनेकान्त। अनेकान्त का अर्थ है—मानस अहिंसा। दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की भावना एवं विचार को अनेकान्त दर्शन कहते हैं। दूसरे के दृष्टिकोण और विचार के प्रति सहिष्णुता और आदर भावना के बिना अहिंसा की पूर्णता नहीं हो सकती। संघर्ष का मूल—आग्रह में है। आग्रह में अपने विचारों का मोह होता है और दूसरों के विचारों का तिरस्कार होता है। एकान्त-दृष्टि में सदा आग्रह का वास होता है। आग्रह से असहिष्णुता उत्पन्न होती है और असहिष्णुता से ही हिंसा एवं संघर्ष पैदा होते हैं। अनेकान्त दृष्टि अनाग्रह-मूलक होती है। अतः उसमें हिंसा और संघर्ष का भय नहीं होता। जब विश्व का कण-कण अनन्त धर्मों का भण्डार है वह विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक रूप में अनुभूति का विषय है, तब अपने ही दृष्टिकोण को सत्य मानने का आग्रह रखना और उसका अहंकार करना निश्चय ही हिंसा और संघर्ष की ओर जाना है। इस हिंसा

और संघर्ष से बचने का एक मात्र उपाय है—अनेकान्त। विचार की इस अहिंसा का ही अनेकान्त दर्शन रूप है।

मानव का व्यापक दृष्टिकोण ही उसे सत्य की ओर ले जाता है। सत्य सदा व्यापक अनन्त और अखण्ड होता है। परन्तु मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप में जान नहीं पाता है। खण्ड रूप में ही वह सत्य का परिबोध कर पाता है। जैन दर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्त दृष्टि, जैन धर्म का सर्व-सहिष्णु अहिंसा सिद्धान्त और जैन परम्परा की समन्वय भावना—ये तीनों विचार मनुष्य के दृष्टिकोण को व्यापक एवं विशाल बनाते हैं।

ही है। परन्तु उसका अर्थ है—एक निश्चित दृष्टिकोण। स्याद्वाद के मर्म को जानने वाला कभी भी वस्तु स्वरूप के प्रति अन्याय नहीं करता। स्याद्वाद भाषा में नम्रता और सहिष्णुता को लेकर ही वस्तु स्वरूप का कथन करता है।

४

सत्य का ज्ञान : अनेकान्त से

मनुष्य में सत्य को समझने की और सत्य को जानने की सहज जिज्ञासा रही है, क्योंकि वह जो कुछ भी देखता है और जो कुछ भी सुनता है उसे जानने का प्रयत्न भी करता है। परन्तु उसकी शक्ति सीमित है, उसकी बुद्धि परिमित है। मनुष्य अल्पज्ञ है, अल्प ज्ञान वाला है। विश्व में अनन्त पदार्थ हैं और एक-एक पदार्थ के भी अनन्त अनन्त पर्याय हैं, असंख्यात अवस्थाएँ हैं। फिर एक अल्पज्ञ मनुष्य एक भी पदार्थ की अनन्त पर्यायों का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है? एक समय में वह किसी एक ही पदार्थ का जान सकता है और उसकी एक ही पर्याय को जानकर उसका कथन कर सकता है। जिस पदार्थ की किसी एक पर्याय का कथन किया है उससे भिन्न अनन्त पर्याय उसी समय उस पदार्थ में अन्य भी विद्यमान हैं जो अवक्तव्य अथवा अनभिलाप्य दशा में स्थित हैं। अतः जैन दृष्टि से विश्व का प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उदाहरण के लिए आप किसी भी एक पदार्थ को ले सकते हैं।

जैसे घड़ा एक पदार्थ है। उस घट में रूप भी है, गन्ध भी है, रस भी है, स्पर्श भी है और हल्का भारीपन आदि अन्य भी अनेक धर्म उसमें विद्यमान हैं। मनुष्य एक समय में उन अनेक धर्मों से किसी एक ही धर्म का कथन कर सकता है। सब का एक साथ न वह कथन ही कर सकता है और न सब को वह एक साथ जान ही सकता है।

अनेकान्त एक दृष्टि है और स्याद्वाद एक भाषा नीति है। अनेकान्त और स्याद्वाद—दोनों का मूल समन्वय में है। विभिन्न विचारों में जहाँ तक सम्भव हो सके, एकता का होना आवश्यक है। यदि एकता न हो सके तो मध्यस्थता होनी चाहिए। तभी समन्वय हो सकेगा, तभी अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का प्रसार होगा। सब धर्म मिलकर एक हो जाएँ यह तो कभी सम्भव नहीं है। हाँ, यह सम्भव कोटि में है, कि विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर के वैर विरोध का उपशमन हो सके। बस समन्वयवाद, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद यही करता भी है। अनेकान्तवाद का अर्थ है—अपने आपको न खोकर सब में मिले रहना।

अनेकान्त-दृष्टि का आधार

जैन धर्म समभाव की साधना का धर्म है। समभाव समता एवं समदृष्टि तथा साम्य भावना—ये सब जैन धर्म के मूल तत्त्व हैं। श्रम शम और सम—ये तीन तत्त्व जैन विचार के मूलाधार हैं।

जैन परम्परा की प्राणभूत साम्य भावना का जैन दर्शन में क्या स्थान है? यह प्रश्न तो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैन परम्परा की साधना में सामायिक की साधना सब में मुख्य साधना है। उक्त साधना में साम्य समता एवं समत्व योग पर ही पूर्णतया भार दिया गया है। समत्व-योग मूलक जो भी विचार और जो भी आचार है वह सब तो सामायिक में आ ही जाता है। षट् आवश्यक में सब से पहला आवश्यक समता—सामायिक ही है। भरत एवं बाहुबली की कथा प्रसिद्ध है। वहाँ प्रहार में से प्रेम प्रकटा। विषमता में से समता जन्मी। चित्त शुद्धि का और आत्म परिष्कार का ...

जैसे घड़ा एक पदार्थ है। उस घट में रूप भी है, गन्ध भी है, रस भी है, स्पर्श भी है और हल्कापन भारीपन आदि अन्य भी अनेक धर्म उसमें विद्यमान हैं। मनुष्य एक समय में उक्त अनेक धर्मों में किसी एक ही धर्म का कथन कर सकता है। सब का एक साथ न वह कथन ही कर सकता है और न सब को यह एक साथ जान ही सकता है।

अनेकान्त एक दृष्टि है और स्याद्वाद एक भाषा शैली है। अनेकान्त और स्याद्वाद—दोनों का मूल समन्वय में है। विभिन्न विचारों में जहाँ तक सम्भव हो सके एकता का होना आवश्यक है। यदि एकता न हो सके तो मध्यस्थता होना चाहिए। तभी समन्वय हो सकेगा तभी अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का प्रसार होगा। सब धर्म मिलकर एक हो जाएँ यह तो कभी सम्भव नहीं है। हाँ, यह सम्भव कोटि में है कि विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर के वैर विरोध का उपशमन हो जाए। बस, समन्वयवाद, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद यही करता भी है। अनेकान्तवाद का अर्थ है—अपने आपको न खोकर सब में मिले रहना।

५

अनेकान्त-दृष्टि का आधार

जैन-धर्म समभाव की साधना का धर्म है। समभाव समता एवं समदृष्टि तथा साम्य भावना—ये सब जैन धर्म के मूल तत्त्व हैं। श्रम, शम और सम—ये तीन तत्त्व जैन विचार के मूलाधार हैं।

जैन परम्परा की प्राणभूत साम्य भावना का जैन दर्शन में क्या स्थान है? यह प्रश्न तो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैन परम्परा की साधना में सामायिक की साधना सब से मुख्य साधना है। उस साधना में साम्य, समता एवं समत्व-योग पर ही पूर्णतया भार दिया गया है। समत्व-योग मूलक जो भी विचार और जो भी आचार है वह सब भी सामायिक में आ ही जाता है। षट् आवश्यक में सब से पहला आवश्यक समता—सामायिक ही है। भरत एवं बाहुबली की कथा प्रसिद्ध है। वहीं प्रहार में से प्रेम प्रकटा। विषमता में से समता जगी। चित्त-शुद्धि का और आत्म-परिष्कार का साधन—समता है।

उस समता अनेक रूपो म प्रगट
की समता—अहिंसा बनती है।
अनेका त बनता है। समाज की
है। भाषा की समता—स्याद्वाद
म साम्य-दृष्टि दो रूपो म ।
२ विचार म। ता
विचार साम्य भावना
के द्वारा अहिंसा का
यह सब आचार
आचार की समता
और अपन म
है। अहिंसा ज
विचार इसक
अहिंसा व
वाचिक
इस

का

का कष्ट न देना यह वाणी की अहिंसा हुई। स्याद्वाद वाणी की अहिंसा होती है।

३ मानसिक अहिंसा—मन में किसी को किसी प्रकार का कष्ट न देना यह विचार की अहिंसा हुई। अनेकान्त को विचार की अहिंसा कह सकते हैं। विचारों के आग्रह में हिंसा है और विचारों के अनाग्रह में अहिंसा है।

विचार की समता पर जब भार दिया गया तब उसमें से अनेकान्त दृष्टि का जन्म हुआ। केवल अपनी दृष्टि को अपने विचार को ही पूर्ण सत्य मानकर उस पर आग्रह रखना यह समता के लिए घातक भावना है। साम्य भावना ही अनेकान्त है। अनेकान्त एक दृष्टि है एक दृष्टिकोण है एक भावना है एक विचार है और सोचने की एक पद्धति है।

जब अनेकान्त वाणी का रूप लेता है भाषा का रूप लेता है तब वह स्याद्वाद बन जाता है। अनेकान्त विचार प्रधान होता है और स्याद्वाद भाषा प्रधान होता है। यह दृष्टि जब तक विचार रूप है तब तक वह अनेकान्त है। और, दृष्टि जब वाणी का चोला पहनती है, तब वह स्याद्वाद बन जाती है। दृष्टि जब आचार का रूप लेती है तब उसको अहिंसा के नाम से पुकारते हैं।

उन समता अनेक रूपों में प्रकट होती है। आचार की समता—अहिंसा बनती है। विचार की समता—अनेकान्त बनता है। समाज की समता—अपरिग्रह बनता है। भाषा की समता—स्याद्वाद बनता है। जैन परम्परा में साम्य दृष्टि दो रूपों में व्यक्त है—१ आचार में और २ विचार में। जैन परम्परा का सब आचार और सब विचार साम्य भावना पर ही आधारित है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा का संरक्षण न होता हो, जैन परम्परा का वह सब आचार सर्वथा एवं सर्वप्रकारेण अमान्य है। आचार की समता का नाम ही वस्तुतः अहिंसा है। अपने और अपने से भिन्न जीवन का सत्कार हो तो अहिंसा है। अहिंसा जैन धर्म का विचार केन्द्र है। अन्य सभी विचार इसके आसपास घूमते हैं। अत जैन परम्परा में अहिंसा के तीन रूप स्वीकृत हुए हैं १ कायिक २ वाचिक और मानसिक। इन तीनों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार से है—

१ कायिक अहिंसा – तन से किसी को किसी प्रकार का कष्ट न देना यह आचार की अहिंसा हुई। क्योंकि आचार का मुख्य केन्द्र तन ही है।

का कष्ट न देना, यह वाणी की अहिंसा हुई। स्याद्वाद वाणी की अहिंसा ही तो है।

२ मानसिक अहिंसा—मन से किसी को किसी प्रकार का कष्ट न देना, यह विचार की अहिंसा हुई। अनेकान्त को विचार की अहिंसा कहा जाता है। विचारों के आग्रह में हिंसा है और विचारों के अनाग्रह में अहिंसा है।

विचार की अहिंसा पर जब भार दिया गया, तब उसमें से अनेकान्त दृष्टि का जन्म हुआ। केवल अपनी दृष्टि को, अपने विचार को ही सत्य मानकर उस पर आग्रह रखना, यह अहिंसा में विघ्न डालता है। अतः स्यात् ही अनेकान्त है। अनेकान्त एक दृष्टि है, एक दृष्टिकोण है, एक भावना है, एक विचार है और सोचने की एक पद्धति है।

जब अनेकान्त वाणी का रूप लेता है, भाषा का रूप लेता है तब वह स्याद्वाद बन जाता है। अनेकान्त विचार प्रधान होता है और स्याद्वाद वाणी प्रधान होता है। एक दृष्टि जब तक विचार रूप है तब तक वह अनेकान्त है। और, दृष्टि जब वाणी का रूप धारण करती है तब वह स्याद्वाद बन जाती है। दृष्टि जब आचार का रूप लेती है तब उसको अहिंसा के नाम से पुकारते हैं।

बुद्ध का विभज्यवाद और मध्यम मार्ग—अनेकान्त और अहिंसा के प्रतीक हैं। भले ही बौद्ध साहित्य में अनेकान्त एवं अहिंसा शब्द न मिलें पर इनका अर्थ प्रकट करने वाले विभज्यवाद और मध्यम प्रतिपदा तो हैं ही।

वैदिक परम्परा में भी अनेकान्त दृष्टि को प्रकारान्तर से स्वीकार किया ही है। शब्द भले ही न हो पर भावना अवश्य है।

अनेकान्त क्या है? अनेकान्त जैन-दर्शन का सब से मुख्य और सब से बड़ा सिद्धान्त है। यह जैन विचार धारा का मूल आधार है। प्रत्येक परम्परा के दो पहलू होते हैं—आचार और विचार, धर्म और दर्शन। धर्म बताता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। दर्शन बताता है कि तत्त्व क्या है? और उसका स्वरूप क्या है? क्योंकि धर्म का मूल आचार में है और दर्शन का मूल विचार में। अतः मनुष्य का आचार उसके विश्वास और विचार के अनुसार होता है। परन्तु मनुष्य के आचार का प्रभाव भी उसके विचार पर पड़ता है।

धर्म और दर्शन में तथा आचार और विचार में वैसा ही गहरा सम्बन्ध है जैसा कि मनुष्य के शरीर और उसका

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

किसी प्रकार का विरोध नहीं है। वस्तु तो वस्तुत्व विरोधी धर्मों के अस्तित्व में ही है। यदि वस्तु में विरोधी धर्म न रहें तो उसका वस्तुत्व ही नष्ट हो जाए। क्योंकि वस्तु यदि सर्वथा एक रूप हो तो वह कुछ भी अर्थ क्रिया (कार्य) नहीं कर सकेगा और अर्थ क्रिया के अभाव में वस्तु का वस्तुत्व कैसे रह सकेगा। एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का रहना असम्भव नहीं। जैसे एक ही नारी में परस्पर विरोधी मातृत्व और पत्नीत्व असम्भवित नहीं है। क्योंकि सन्तान की अपेक्षा से जिसमें मातृत्व धर्म है पति की अपेक्षा से उसी में पत्नीत्व भी बिना किसी बाधा के रह सकता है।

जब वस्तु को एकान्त दृष्टि से देखा जाता है तब उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन नहीं हो पाता। वस्तु का वस्तुत्व अनेकान्त-दृष्टि से ही जाना जा सकता है। इस विषय में आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

'आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र,
यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र,
तत्र मतिरेति निवेशम्॥'

कदाग्रही व्यक्ति की जिस विषय में मति होती है, उसी विषय में वह युक्ति को लगाता है। परन्तु निष्पक्ष

क्योंकि उसी काल का व्याघात करता है या दृष्टि भिन्न होती है।

एकान्तवादी कहता है, कि जो वस्तु सत् है वह असत् कैसे हो सकती है और जो वस्तु नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकती है? इसी प्रश्न का समाधान आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रकार किया है—

सदेव सर्व को नेच्छेत्,
स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासात्
न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥'

किसी भी द्रव्य वस्तु स्व चतुष्टय की अपेक्षा से सत् है और पर चतुष्टय की अपेक्षा से असत् है। इस प्रकार की व्यवस्था के अभाव में किसी भी तत्त्व की सुन्दर व्यवस्था नहीं हो सकती।

प्रत्येक वस्तु का अपना स्वरूप होता है जो अन्य वस्तुओं के स्वरूप से भिन्न होता है। उसका अपना क्षेत्र, अपना काल और अपना भाव-स्वभाव भी होता है—इन्हीं को स्व चतुष्टय कहते हैं। अपने द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव से भिन्न जो पर-वस्तु के चतुष्टय हैं वे पर चतुष्टय कहलाते हैं।

घट घट द्रव्य की अपेक्षा से घट है। पर द्रव्य की अपेक्षा से घट नहीं। उसका अपना जो क्षेत्र है उसी की अपेक्षा से वह घट है पर-क्षेत्र की अपेक्षा से घट नहीं है। जिस काल में वह है, उस काल की अपेक्षा से घट का सद्भाव है पर काल की अपेक्षा से घट का सद्भाव नहीं। अपने स्वभाव की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है पर के स्वभाव की अपेक्षा से नहीं। घट अपनी अपेक्षा से घट है पर की अपेक्षा नहीं। घट अपनी अपेक्षा से सत् है पट आदि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से असत् है। घट यही उपलक्षण है। घट से समस्त वस्तुओं का ग्रहण करना चाहिए। अतः घट सत् भी है और घट असत् भी है। वस्तु के स्वरूप निर्णय में एकान्त का कदाग्रह छोड़कर अनेकान्त का आश्रय लेना चाहिए। तभी वस्तु के स्वरूप का निर्णय होगा।

अनेकान्तवाद
का
स्वरूप दर्शन

जीवन की आचार-शुद्धि है
निर्भर सदा विचार शुद्धि पर ।
और विचार शुद्धि की गति भी
आधारित है तप की नींव पर ॥

६
अनेकान्त-दृष्टि

जगती-तल पर जितने भी धर्म हैं उन सब के दो पक्ष होते हैं—आचार और विचार। विचार ज्ञान है और आचार क्रिया है। बिना विचार के आचार अन्धा है और बिना आचार के विचार पंगु है।

जैन धर्म विश्व का एक प्रमुख धर्म है। वह साधना का सर्वांगीण चित्र साधक के समक्ष उपस्थित करता है।

इस एक ही वाक्य में सम्पूर्ण जैन धर्म का, जैन संस्कृति का और जैन-दर्शन का निःस्यन्द आ जाता है, सारा सार संकलित हो जाता है। अहिंसा के सम्बन्ध में यहाँ प्रसंग प्राप्त न होने से कुछ भी नहीं कहा जाएगा। यहाँ पर केवल अनेकान्त के विषय में ही कहना होगा।

भारतीय दर्शन परम्परा में जीव और जगत् के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है—बहुत कुछ कहा गया है। प्रत्येक प्रवर्तक ने, प्रत्येक ऋषि ने और प्रत्येक आचार्य ने अपने अभिमत सत्य को संस्थापित करने के लिए दूसरों का खण्डन भी किया है, और खूब किया है।

जीव क्या है ? और जगत् क्या है ? इन दोनों प्रश्नों का समाधान ही वस्तुतः दर्शन शास्त्र है—भले ही उसमें अपने अभिमत सत्य का आग्रह ही क्यों न रहा हो ? सत्य अनन्त है, उस अनन्त सत्य को एकांगी दृष्टिकोण पकड़ भी कैसे सकता है ?

दर्शन शास्त्र के इतिहास की गति विधि का गंभीर अध्ययन करने वाले परम विज्ञों से यह रहस्य छुपा हुआ नहीं है, कि दर्शन-जगत् में दो प्रतिवादों का प्रबल संघर्ष चल पड़ा था—

एकान्त नित्यवाद, एकान्त अनित्यवाद। एकान्त सत्, एकान्त असत्। एकान्त भेदवाद, एकान्त अभेदवाद। कूटस्थ नित्यता, सर्वथा क्षणिकता।

जीव और जगत् को लेकर इन्हीं वादों के तीक्ष्ण शस्त्रों से दार्शनिक एक दूसरे के साथ निर्मम होकर बौद्धिक युद्ध किया करते थे। जिसका परिणाम कभी भी शुभंकर तथा हितंकर नहीं हुआ। उस बौद्धिक विद्वेष का दारुण और दुःखद परिणाम तत्कालीन समाज और देश पर भी पड़े बिना कैसे रहता ? फलतः सर्वत्र विषमता का अधिराज्य हो गया। वैदिक और बौद्धों की सीधी जमकर टक्कर हुई। वैदिक दर्शनों का इतिहास भी कम भयावह नहीं है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

१—[illegible]

[illegible]

—[illegible]

२—[illegible]

—[illegible]

प्रत्येक वस्तु—भले वह जड़ हो या चेतन, त्रिलक्षणात्मक होती है। प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रुवता रहती है। पूर्व आकार का नाश और उत्तर आकार का उत्पाद—यह प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण होता रहता है। परन्तु उत्पाद एवं विनाश के रहते हुए भी वस्तु अपने आप में ध्रुव भी है।[1]

द्रव्य दृष्टि से वस्तु में न उत्पाद है और न विनाश। द्रव्य की अपेक्षा से तो वस्तु ध्रुव है, नित्य है। परन्तु पर्याय दृष्टि से वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद भी है और विनाश भी है। वस्तु में न एकान्त विनाश है, न एकान्त उत्पाद है, और न एकान्त ध्रुवता है। ये तीनों परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं, बल्कि परस्पर सापेक्ष धर्म हैं। द्रव्यात्मना वस्तु या पदार्थ नित्य है, सत् है और अभिन्न है, परन्तु पर्यायात्मना वस्तु या पदार्थ अनित्य है, असत् है और भिन्न है।

भगवान् महावीर की यह अनेकान्त-दृष्टि ही वस्तुतः स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगीवाद के रूप में अंकुरित, पल्लवित एवं कुसुमित हुई है। इस अनेकान्त-दृष्टि को ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने विशाल एवं विराट रूप दिया है। सिद्धसेन और समन्तभद्र, हरिभद्र और अकलंक, हेमचन्द्र

१—वस्तु तत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्।

—स्याद्वाद मञ्जरी

और प्रभाचन्द्र प्रभृति आचार्यों की एक लम्बी परम्परा अनेकान्तवाद को परिपुष्ट करती रही है।

अनेकान्त-दृष्टि वस्तु के किसी एक ही धर्म का एकत्र विचार नहीं करती वह तो वस्तु के अनन्त धर्मों का स्वीकार करती है। वस्तु के किसी एक ही धर्म को ग्रहण करके चलने वाली दृष्टि एकांगी होती है। फलतः वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाती।

बनाए हुए सकोरा को कोई घड़ा कहेगा ? नहीं । क्या नहीं ? मिट्टी तो वही है । परन्तु वह आकार बदल जाने से उसे घड़ा नहीं कह सकते । अच्छा, तो फिर यही सिद्ध हुआ कि घड़ा मिट्टी का एक आकार विशेष—एक विशेषपर्याय है । परन्तु इसके साथ ही हमें ध्यान रखना चाहिए कि वह आकार विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न भी नहीं है । उस-उस आकार में परिवर्तित मिट्टी ही जब घड़ा सकोरा आदि नामों से व्यवहृत होती है तो फिर घड़े के आकार और मिट्टी—इन दोनों को भिन्न कैसे माना जा सकता है ? इस पर से तो यही सिद्ध होता है कि घड़े का आकार और मिट्टी—ये दोनों घड़े के स्वरूप हैं । अब इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौन-सा है और ध्रुव स्वरूप कौन सा है ? यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि घड़े का आकार—पर्याय विनाशी है । अतः घड़े का एक स्वरूप तो जो कि घड़े का आकार विशेष है विनाशी ठहरा । घड़े का दूसरा स्वरूप जो मिट्टी है वह कैसा है ? वह विनाशी नहीं है । क्योंकि मिट्टी के ये आकार परिणाम पर्याय बदला करते हैं परन्तु मिट्टी तो सभी की वही रहती है । यह एक अनुभव सिद्ध बात है । इस तरह घड़े का एक विनाशी और एक ध्रुव—ये दो स्वरूप देखे जा सकते हैं । इस पर से यही मानना पड़ेगा कि विनाशी स्वरूप से घड़ा

अनित्य भी है और ध्रुव स्वरूप से सदा नित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से नित्य भाव और अनित्य भाव के दर्शन को अनेकान्त दर्शन कहते हैं।

विशेष स्पष्टता के लिए इस पर कुछ अधिक दृष्टिपात करें। सब पदार्थों में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश लगे हुए हैं। दृष्टान्त के तौर पर सोने के एक हार को लें। सोने के हार को तोड़कर कड़ा बनाया। उस समय हार का नाश हुआ और कड़े की उत्पत्ति हुई। यह हम स्पष्ट देखते हैं। परन्तु हार को तोड़कर हार में जो सोना था उसी सोने का बनाया हुआ कड़ा सर्वथा नया ही उत्पन्न हुआ है यह नहीं कहा जा सकता। कड़े को सर्वथा नवीन तो तभी माना जा सकता है जब उसमें हार की कोई भी वस्तु न आए। परन्तु जब हार का सभी का सभी सोना कड़े में आया है केवल हार का आकार ही बदला है तो फिर कड़े को सर्वथा नवीन उत्पन्न कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार हार का सर्वथा विनाश भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि सर्वथा विनाश तो तभी माना जाए जब हार की कोई भी वस्तु विनाश से न बची हो। परन्तु जब हार का समूचा सोना ज्यों का त्यों कड़े में आया है तो फिर हार को सर्वथा विनष्ट कैसे कहा जा सकता है? इस पर से यह बात अच्छी तरह से ध्यान में आ सकती है कि हार

का नाश हार—के आकार पर्याय के नाश तक ही सीमित है। यही तो हार का नाश है न ? और कड़े की उत्पत्ति कड़े के आकार-पर्याय की उत्पत्ति तक ही सीमित है और यही तो कड़े की उत्पत्ति है न ? जबकि इन दोनों—हार और कड़े का सुवर्ण तो एक ही है। अतः हार और कड़ा तब ही सुवर्ण के आकार भेदा पर्याय भेदों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु - उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप है। हर वस्तु बदलती भी है और हर वस्तु स्थिर भी रहती है। पर्याय की दृष्टि से उसमें उत्पाद और व्यय होता है इसी को वस्तु का परिवर्तन कहते हैं। परन्तु द्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु नित्य है उसका कभी नाश नहीं होता है।

दीपक बुझ गया। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि दीपक का सर्वथा नाश हो गया। दीपक के परमाणु समूह कायम हैं। जिस परमाणु संघात से दीपक जला था वही परमाणु संघात रूपान्तरित हो जाने से दीपक रूप में नहीं दीखता, और इसलिए अन्धकार का अनुभव होता है। सूर्य की गरमी से पानी सूख जाता है इससे पानी का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता। वह पानी रूपान्तर में बराबर कायम रहता है। जब तक वस्तु के स्थूल रूप का

नाश हो जाता है तब वह वस्तु सूक्ष्म अवस्था में अव्यक्त रूप में परिणत हो जाती है जिससे पहले पैदा हुआ उसका रूप न बढ़ न घटा— यह स्पष्ट है। कोई भी वस्तु नयी उत्पन्न नहीं होती और किसी भी वस्तु का सर्वथा नाश भी नहीं होता— यह एक प्रबल सिद्धान्त है।

कहा है— असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का नाश नहीं होता।

उत्पत्ति और नाश पर्याय का होता है। दूध का दही हुआ वह नया उत्पन्न नहीं हुआ है। दूध का ही परिणाम रहा है। यह कारण दूध-रूप से नष्ट होकर दही रूप में उत्पन्न हुआ है। अतः ये दोनों गोरस ही हैं।[1]

इस तरह से सब पदार्थ— उत्पाद, विनाश और स्थिति— युक्त स्वभाव के होते हैं। जिनका उत्पाद और विनाश होता है उन्हें जैन शास्त्रों में पर्याय कहते हैं और

१—पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् वस्तु त्रयात्मकम्॥
—आप्त मीमांसा

उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः
गोरसत्वात्

२

जो मूल वस्तु स्थायी रहती है उसे 'द्रव्य' कहते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। इस तरह प्रत्येक वस्तु को एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य नहीं, किन्तु नित्यानित्य रूप से अवलोकन अथवा निरूपण करना ही अनेकान्त है।

८

एकान्तवाद में दोष

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने वीतराग-स्तोत्र के आठवें प्रकाश में एकान्त नित्यवाद में और एकान्त अनित्यवाद में कुछ दूषण दिए हैं जो इस प्रकार हैं—

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुख-दुःखयोः ।
एकान्तानित्यरूपेऽपि न भोगः सुख-दुःखयोः ॥२॥
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ न नित्यैकान्तदर्शने ।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥

आत्मा को नित्य ही नहीं किन्तु एकान्त नित्य मानें तो इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा में किसी प्रकार का अवस्थान्तर अथवा स्थित्यन्तर नहीं होता। किसी प्रकार का परिणाम अथवा परिवर्तन नहीं होता। फिर तो आत्मा सर्वथा कूटस्थ नित्य है यह मानना पड़ेगा। यदि यह मान लिया जाए तो सुख-दुःख आदि की भिन्न भिन्न समय वाली भिन्न भिन्न अवस्थाएँ आत्मा में घटित नहीं होंगी। आत्मा को नित्य मान करके भी यदि परिणामी

भिन्न भिन्न परिणामों में परिणमन करने वाला माना जाए तभी निरन्तर उत्पद्यमान और विनाशशील समग्र पर्यायों परिणामों में वह स्थायी स्थिति-शील होने से उसमें भिन्न भिन्न समय की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ—भिन्न भिन्न समय के भिन्न भिन्न परिवर्तन घट सकते हैं और भिन्न भिन्न समय में उसके किए हुए सत्कर्म-दुष्कर्म के अच्छे-बुरे फल चाहे जितने समय के बाद अथवा जन्मों के पश्चात्[1] भी, उसे मिल सकते हैं। कूटस्थ नित्य[2] मानने पर तो

१—भगवान् बुद्ध के पैर में एक बार चलते चलते काँटा चुभ गया। उस समय उन्होंने अपने भिक्षुओं से कहा—

इत एकनवति-कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्म विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥

—शास्त्रवार्त्ता समुच्चय

भिक्षुओ! इस भव से इकानवें भव में मैंने एक पुरुष का शक्ति द्वारा वध किया था। कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर में काँटा चुभा है।

२—कूटस्थ, अर्थात् कूट यानी पर्वत के शिखर की भाँति अथवा लोह के घन की तरह स्थिर किसी तत्त्व को सर्वथा अपरिणामी और निर्विकार बतलाने के लिए कूटस्थ शब्द का प्रयोग किया जाता है।

किसी प्रकार का अवस्थान्तर, स्थित्यन्तर या भिन्न भिन्न परिणाम की कल्पना न होने से पुण्य-पाप की भिन्न भिन्न वृत्ति प्रवृत्तियाँ और सुख दुःख आदि की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ घट ही नहीं सकती। अतएव स्वरूप आत्मा में ही नहीं किन्तु प्रत्येक अचेतन जड़ पदार्थ में भी प्रतिक्षण होने वाले भिन्न भिन्न परिणामों का प्रवाह सतत चालू ही रहता है। वस्तुमात्र परिवर्तन शील है। क्षण-क्षण में उसके पर्याय बदला करते हैं।

जिस प्रकार आत्मा को एकान्त नित्य मानने में ऊपर की बातें संगत नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा को एकान्त अनित्य सर्वथा क्षणिक मानने में भी वे ही दोष खड़े होते हैं। वस्तु के सतत निरन्तर परिवर्तन-शील पर्यायों विवर्तों परिणामों-परिवर्तनों में अनुस्यूत एक स्थायी द्रव्य मानना सर्वथा उचित है। आत्मा भिन्न भिन्न अवस्थाओं में—भिन्न भिन्न पर्यायों में निरन्तर परिणमन होता रहता है फिर भी उन सब अवस्थाओं में स्वयं आत्म-रूप से नित्य अखण्ड रहता है।

किन्तु आत्मा को स्थायी नित्य अखण्ड द्रव्य मानने के बदले केवल क्षण क्षण के पर्याय ही मानें तो यह होगा कि एक क्षण के पर्याय में जो कार्य किया था उसका फल दूसरे क्षण के पर्याय को ही मिलेगा। जिसने किया था उसे नहीं मिला और जिसने नहीं किया था उसे मिला।

पर यह कितनी विसंगति है! इन दोषों को कृत-नाश और अकृतागम कहा जाता है। 'कृतनाश' का अर्थ है— जिसने जो किया हो, उसका फल उसे न मिलना और 'अकृतागम' का अर्थ है— जिसने जो किया नहीं है उसका फल उसे मिलना।

इस तरह एकान्त क्षणिकवाद में भी सुख-दुःख का भोग, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष की उपपत्ति घटित नहीं होती।

६

एकान्तों का समन्वय : अनेकान्त

एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवाद—दोनों ही दूषित होने से बुद्धिमानों के लिए वे कदापि मान्य नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार के दोषों से बचने का एक ही उपाय है कि जैन दर्शन-सम्मत कथंचित् नित्यवाद और कथंचित् अनित्यवाद को स्वीकार कर लिया जाए।

इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तोत्र में बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है, जो इस प्रकार से है—

गुडो हि कफहेतुः स्यात् नागरं पित्तकारणम्।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥६॥

गुड़ कफ करने वाला है और सोंठ पित्त करती है। परन्तु इन दोनों के मिश्रण में कोई दोष नहीं रहता। इसी प्रकार एकान्त नित्यवाद अथवा एकान्त अनित्यवाद में दोष हैं परन्तु नित्यानित्यवाद निर्दोष है।

वस्तु के स्वरूप के विषय में भिन्न भिन्न दर्शनों के विभिन्न मन्तव्य हैं। वेदान्त-दर्शन पूरे संसार को ब्रह्म का

केवल ध्रुव नित्य मानता है। बौद्ध-दर्शन सत् पदार्थ को सर्वथा निरन्वय क्षणिक मात्र उत्पाद विनाश शील मानता है। सांख्य-दर्शन चेतन-तत्त्वरूप सत् को केवल ध्रुव कूटस्थ नित्य और प्रकृति तत्त्वरूप सत् को परिणामी नित्य मानता है। नैयायिक वैशेषिक सत् पदार्थों में से परमाणु काल आत्मा आदि कतिपय सत् पदार्थों को कूटस्थ नित्य और घट पट आदि सत् पदार्थों को मात्र अनित्य मात्र उत्पाद विनाश शील मानते हैं। परन्तु जैन दर्शन का मन्तव्य यह है कि चेतन या जड मूर्त्त या अमूर्त्त स्थूल या सूक्ष्म—सब सत् कहे जाने वाले पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक हैं।

पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु में एक अंश ऐसा है जो सदा शाश्वत रहता है और दूसरा अंश अशाश्वत। शाश्वत अंश की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक स्थिर है और अशाश्वत अंश की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्ययात्मक अस्थिर कहलाती है। इन दो अंशों में से किसी एक ही अंश की ओर दृष्टि जाने से वस्तु केवल अस्थिर रूप अथवा स्थिर रूप प्रतीत होती है, परन्तु दोनों अंशों की ओर दृष्टि डालने से वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है। अतः इन दोनों दृष्टियों के अनुसार ही जैन दर्शन वस्तु को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य—इस प्रकार त्रयात्मक बतलाता है।

वस्तु का सदसद्वाद भी अनेकान्तवाद है। वस्तु सत् कहलाती है वह किस कारण? अपने ही गुणों से अपने ही धर्मों से प्रत्येक वस्तु सत् हो सकती है दूसरे के गुणों से नहीं। गुणी अपने गुणों से गुणी है दूसरों के गुणों से नहीं। धनवान् अपने धन से धनी है दूसरों के धन से नहीं। पिता अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है दूसरों के पुत्र की अपेक्षा से नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने गुणों की अपेक्षा से अपने धर्मों की अपेक्षा से सत् है दूसरों के गुण धर्मों की अपेक्षा से नहीं।

एकान्त मुद्रामधिशय्यशय्या,
नय व्यवस्था विन या प्रमीला ।
तया निमीलान्नयनस्य पुंस
स्यात्कार मन्त्राञ्जनिकी शलाका ।।

— पार्श्वनाथ स्तोत्र

१०

स्व-पर-चतुष्टय

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विचार करने पर प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् है और दूसरों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् है। जैसे कि घड़ा है, शीतकाल में कुम्हार द्वारा बनाया घड़ा द्रव्य से मिट्टी का है — मृत्तिका-रूप है। परन्तु जलधारादि रूप नहीं है। क्षेत्र से कमरे में बना हुआ है, दूसरे क्षेत्र का नहीं है। काल की अपेक्षा से शीतकाल में बना हुआ है, परन्तु दूसरी ऋतु का नहीं है। भाव की अपेक्षा से श्याम रंग का है, अन्य वर्ण का नहीं है।

चिन्तन रूप से देखने पर स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव से प्रत्येक सत् है और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव से असत् है।

ज्ञानधारी पुरुष रूप जीव अपने जीव द्रव्य रूप से है, जड़-द्रव्य के रूप में नहीं है। इसी प्रकार घट अपने घट रूप से है, पट रूप से नहीं है। हर एक वस्तु स्व-द्रव्य रूप से है, पर-द्रव्य रूप से नहीं है।

द्रव्य के प्रदेशों को क्षेत्र कहते हैं। घट के अवयव घट का क्षेत्र है। यद्यपि व्यवहार में आधार की जगह को क्षेत्र कहते हैं तथापि वह वास्तविक क्षेत्र नहीं है। जैसे 'दावात में स्याही है'। यहाँ पर व्यवहार में स्याही का क्षेत्र दावात कहा जाता है, वास्तव में स्याही और दावात का क्षेत्र अलग-अलग है। यदि दावात काँच की है तो जिस जगह काँच है उस जगह स्याही नहीं है और जिस जगह स्याही है उस जगह काँच नहीं है। यद्यपि काँच ने स्याही को चारों ओर से घेर रखा है, फिर भी दोनों अपनी अपनी जगह पर हैं। स्याही के प्रदेश अवयव ही उसका—स्याही का क्षेत्र है। जीव और आकाश एक ही जगह रहते हैं परन्तु दोनों का क्षेत्र एक नहीं है। जीव के प्रदेश जीव का क्षेत्र है और आकाश के प्रदेश आकाश का क्षेत्र है। वस्तु के परिणमन को काल कहते हैं। जिस द्रव्य का जो परिणमन है वही उसका काल है। एक साथ अनेक वस्तुओं के अनेक परिणमन हो सकते हैं। परन्तु उनका काल एक नहीं हो सकता क्योंकि उनके परिणमन पृथक्-पृथक् हैं। घड़ी, घण्टा, मिनट आदि में भी काल का व्यवहार होता है परन्तु यह स्व काल नहीं है। व्यवहार चलाने के लिए घड़ी, घण्टा आदि की कल्पना की है।

वस्तु के गुण-शक्ति-परिणाम को भाव कहा है। प्रत्येक वस्तु का 'भाव' स्व भाव भिन्न-भिन्न होता है। क्योंकि यदि वस्तुएँ बिल्कुल समान हों तो उनके स्व भाव परस्पर समान या सदृश कहे जा सकते हैं। किन्तु एक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि एक द्रव्य की गुण-शक्ति दूसरे में नहीं रहती।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्व द्रव्य स्व-क्षेत्र स्व काल और स्व भाव की अपेक्षा से 'सत्' है और वही वस्तु पर द्रव्य पर-क्षेत्र पर काल और पर भाव की अपेक्षा से असत् है।

अब अनेकान्तवाद पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करके देखिए। वस्तु मात्र में सामान्य धर्म और विशेष-धर्म रहे हुए हैं। भिन्न भिन्न घोड़ों में 'घोड़ा' 'घोड़ा' इस प्रकार जो एकाकार एक जैसी बुद्धि उत्पन्न होती है वह सूचित करती है कि सब घोड़ों में सामान्य धर्म एकरूपता है। परन्तु अनेक घोड़ों में से अपना घोड़ा अथवा अमुक घोड़ा जो पहचान लिया जाता है। इस पर से सभी घोड़े एक दूसरे से विशेषता भिन्नता पृथकता वाले भी सिद्ध होते हैं। इस तरह सभी वस्तुएँ सामान्य विशेष स्वरूपात्मक समझी जा सकती हैं। वस्तु का यह सामान्य विशेष स्वरूप परस्पर सापेक्ष है। इस तरह प्रत्येक वस्तु को सामान्य विशेष उभय रूप समझना—अनेकान्त-दृष्टि है।

स्याद्वाद शब्द स्यात् और वाद — इन दो शब्दों से बना है। स्यात् अर्थात् कथञ्चित् अपेक्षा से, किसी दृष्टिकोण से। स्यात् अव्यय है और अनेकान्त का सूचक है। इसलिए स्याद्वाद का दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' भी है। अनेकान्त शब्द में अनेक और 'अन्त' — दो शब्द हैं। इसमें 'अन्त' का अर्थ यहाँ धर्म या अर्थ दृष्टि, विचार एवं अपेक्षा — लिया जाता है। इस प्रकार अनेकान्तवाद का अर्थ अनेक दृष्टियों से विविध दिशाओं से भिन्न भिन्न कोणों से वस्तु का अवलोकन अथवा कथन करना हुआ है। इस तरह 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' ये दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। एक ही दृष्टि से एक ही पहलू से वस्तु को देखना — इसे एकान्त दृष्टि कहते हैं और इसलिए वह अपूर्ण दृष्टि है जबकि अनेक दिशाओं से भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु का अवलोकन करने वाली दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है। अतः वह विशाल और व्यापक दृष्टि है। इस से वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है।

जिस प्रकार हाथी के एक एक अवयव का ही स्पर्श करने से हाथी का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता उसी प्रकार वस्तु के एक एक अंश का ही स्पर्श करने से उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। हाथी का स्वरूप जानने के लिए उसके मुख्य मुख्य सभी अंगों

का स्पर्श करना आवश्यक है तथा प्रत्येक वस्तु की यथार्थता के लिए उसके सर्वांग एवं सम्यक् तथा स्वरूप ज्ञान वाञ्छित।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए — एक ओर काली और दूसरी ओर सफेद रंग से रंगी हुई ढाल को, जो काली दिशा की ओर से देखने वाला काली ही को और जो सफेद दिशा की ओर से देखने वाला सफेद ही कहे तो वह पूर्ण सत्य नहीं है। किन्तु अपेक्षाकृत से अपने अपने पक्ष की और दोनों बात को मानने में ही पूर्ण सत्य है। इसी तरह वस्तु का स्वरूप जैसा हो वैसा समझना और कहना — यह यथार्थ ज्ञान और यथार्थ कथन कहा जाता है। यह एक तरफ से देखने वाली एकान्त-दृष्टि से नहीं हो सकता। किन्तु अनेक तरफ से देखने वाली अनेकान्त-दृष्टि से ही हो सकता है। अनेकान्त-दृष्टि वस्तु के अनेक धर्मों को देखती है। भिन्न भिन्न अपेक्षा से वस्तु के सम्भावित अनेक धर्मों का वह अवलोकन कर सकता है। वस्तु को अनेक दिशाओं से अपेक्षा से वस्तु के स्वरूप की विशेष स्पष्टता हो सकती है। इसी दृष्टि वाला मनुष्य दूसरे मनुष्य का दृष्टि बिन्दु समझ सकता है, उसकी वह परीक्षा कर सकता है। यदि वह यथार्थ हो तो, उसका समन्वय करने का वह प्रयत्न कर सकता

स्याद्वाद अथवा अनेकान्त-दर्शन एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न दृष्टि से अस्तित्व नास्तित्व, नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों का समन्वय करता है। इस पर से यह समझा जा सकता है कि वस्तु-स्वरूप जिस प्रकार हो, उसी तरह उसकी विवेचना करनी चाहिए।

वस्तु-स्वरूप की जिज्ञासावाले किसी व्यक्ति ने प्रश्न पूछा कि—क्या घड़ा अनित्य है? इसके उत्तर में यदि ऐसा कहा जाए कि—हाँ घड़ा अनित्य ही है तो यह कथन यथार्थ नहीं है या फिर अपूर्ण है। क्योंकि यह कथन यदि सम्पूर्ण विचार दृष्टि के परिणाम स्वरूप कहा गया है तो यह यथार्थ नहीं है। क्योंकि घड़ा सम्पूर्ण दृष्टि से विचार करने पर अनित्य होने के साथ ही साथ नित्य भी सिद्ध होता है। यदि यह कथन अमुक दृष्टि से कहा गया हो तो इस वाक्य में यह कथन अमुक दृष्टि से है यह सूचना करने वाला कोई शब्द जोड़ना चाहिए। इसके बिना यह उत्तर अधूरा सा लगेगा। इस पर से समझा जा सकता है कि यदि वस्तु का कोई भी धर्म बतलाना हो तो इस तरह बतलाना चाहिए, जिससे दूसरा धर्म अथवा उसका प्रतिपक्ष धर्म जो उसमें सम्भव हो उसका अस्तित्व उस वस्तु में से हटने न पाए। अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु को जब हम नित्य मानते रहे हों तब

उसमें ऐसा कोई शब्द जोड़ना चाहिए जिससे उस वस्तु में रहे हुए अविरुद्ध धर्म का अभाव सूचित न होने पाए। वह शब्द संस्कृत भाषा में 'स्यात्' है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ है—जैसा कि ऊपर कहा है उस तरह 'अमुक अपेक्षा से'। 'स्यात्' शब्द अथवा उसी अर्थ वाला संस्कृत भाषा का 'कथंचित्' शब्द भी है।

स्यात् और कथंचित् शब्द का प्रयोग करने से वस्तु-गत विरुद्ध धर्मों का विरोध नहीं होता है।



विना य नोकानामपि न घटते सव्यवहृति,
समर्था नैवार्थानिवगमयितु शब्द रचना।
वितण्डा चण्डाली स्पृशति च विवाद-व्यसनिना,
नमस्तस्म यस्मिचिदनिशमनेकान्त महस ॥

—अनेकान्त व्यवस्था

११

स्याद्वाद

जैन-दर्शन की चिन्तन-धारा में स्याद्वाद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह वह सर्वंकष सिद्धान्त है जिसके द्वारा विश्व-शान्ति स्थापित की जा सकती है। धार्मिक मत-विवाद तथा संघर्ष के थोथे तर्क-जाल को समाप्त हो दूर सकता है। स्याद्वाद का उपयोग दर्शन और दैनिक व्यवहार—दोनों में किया जा सकता है। वस्तुतः हम व इस उदार एवं विशाल सिद्धान्त को यदि व्यावहारिक जीवन का अविच्छिन्न अंग बना लिया जाए और मन-वचन कर्म की एक रूपता के आदर्श पथ पर प्रतिष्ठित कर दिया जाए, तो निश्चय ही हम स्वयं में विश्व की अनेक दुष्कर परिस्थितियों के थपेड़ों में अनेकान्त का व्यवहार करके शान्ति को प्राप्त कर सकेंगे।

स्याद्वाद जैन-दर्शन की अन्यतम आधारशिला है। जैन-दर्शन का भव्य भवन इसी पर निर्मित है। इसी के

आधार पर जैन ने विश्व को शान्ति का शुभ सन्देश सुनाया था। धार्मिक असहिष्णुता और मानसिक संकीर्णता जैसे अमानवीय विघातक मानसिक विकारों का समूल उन्मूलन करने वाला स्याद्वाद ही है। परस्पर स्नेह एवं सद्भाव से रहने का सुन्दर पाठ मानव-समाज को स्याद्वाद ने ही पढ़ाया है। अपनी विशिष्टता स्थापित करने के निमित्त स्याद्वाद किसी भी धर्म या सिद्धान्त का खण्डन नहीं करता, किन्तु अपने औचित्य के अनुरूप भिन्न भिन्न दृष्टिकोण का समन्वय एवं एकीकरण करता है।

स्याद्वाद क्या है? उसकी मौलिक परिभाषा क्या है? उसकी उपयोगिता जीवन-व्यापार के लिए किस रूप में है? इन सभी प्रश्नों पर हमें यहाँ संक्षेप में विचार करना होगा।

परिभाषा—स्याद्वाद का अर्थ [1]—विभिन्न दृष्टिकोणों का बिना किसी पक्षपात के तटस्थ बुद्धि से समन्वय करना। जो महत्त्वपूर्ण कार्य एक न्यायाधीश का होता है और वही कार्य विभिन्न विचारों के समन्वय के लिए स्याद्वाद का है। जिस प्रकार एक जज वादी और प्रतिवादी—दोनों पक्षों के बयान सुनकर और दोनों पक्षों के बयानों की जाँच पड़ताल करके निर्णय प्रकट करता है उसी प्रकार स्याद्वाद भी इन विभिन्न विचारों को सुनकर उनमें समन्वय कराता

है। यह तो हुआ स्याद्वाद का मौलिक अर्थ। अब शाब्दिक अर्थ भी सुन लीजिए।

स्याद्वाद शब्द दो शब्दों का संयुक्तीकरण है—'स्यात् + वाद'। स्यात् का अर्थ है—अपेक्षा या दृष्टिकोण और वाद का अर्थ है—सिद्धान्त या मन्तव्य। दोनों शब्दों का सम्मिलित अर्थ होगा—सापेक्ष सिद्धान्त अर्थात्—वह सिद्धान्त जो अपेक्षा को लेकर चलता है और भिन्न भिन्न विचारों का एकीकरण करता है। अनेकान्तवाद अपेक्षावाद कथंचिद्वाद और स्याद्वाद—इन सब का एक ही अर्थ है। अनेकान्त और स्याद्वाद में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है और वह अन्तर केवल इतना ही है कि—अनेकान्त एक व्यापक विचारपद्धति है और स्याद्वाद उसको अभिव्यक्त करने की निर्दोष भाषापद्धति है।

स्याद्वाद रहस्यविद् आचार्यों ने स्याद्वाद की परिभाषा इन शब्दों में की है—अपने अथवा दूसरे के विचारों मन्तव्यों, वचनों तथा कार्यों में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टिकोण का ध्यान रखना ही स्याद्वाद है। इस परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

जिस प्रकार ग्वालिन मथन करते समय रस्सी के दो छोरों में से कभी एक को और कभी दूसरे को खींचती है

उसी प्रकार अनेकान्त पद्धति भी कभी वस्तु के एक धर्म को मुख्यता देती है और कभी दूसरे धर्म को।[1]

देखिए आचार्य ने किस भावमयी एवं भाषा में स्याद्वाद की परिभाषा की है? सुनकर गद्गद् हो जाता है और पाठक आचार्य के स्वर में स्वर मिलाकर उल्लासपूर्ण स्वर में उद्घोष करता है—

जयति जैनी नीति — जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त-नीति स्याद्वाद सिद्धान्त सदा जयवन्त हो।

स्याद्वाद की दार्शनिक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

'प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मक
वस्तु-प्रतिपादकं श्रुतस्कन्धात्मकं स्याद्वादः।'[2]

उपयोगिता—वस्तु के वास्तविक तथा व्यावहारिक स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वाद का उपयोग परमावश्यक है। स्याद्वाद के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक निर्णय नहीं हो सकता। यदि हम किसी वस्तु के एक ही धर्म का

१—"एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु-तत्त्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी।"
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

२— अष्टसहस्री।

पकड़ में और अन्य धर्मों की ओर ध्यान न दें तो हम निश्चय ही सारे व्यवहार में असफल रहेंगे।

मान लीजिए—हम अपने पिता को पिता कहते हैं क्योंकि वह हमारा जनक है। इसमें हम कोई भूल नहीं करते। पर क्या हमारा पिता सम्पूर्ण संसार का पिता हो सकता है? कहना होगा नहीं। क्योंकि हमारा पिता तो हमारी अपेक्षा से ही पिता है किसी दूसरे की अपेक्षा से नहीं। हमारी व्यक्तिगत अपेक्षा के अतिरिक्त किसी दूसरे की अपेक्षा से वह मामा भी है किसी तीसरे की अपेक्षा से वह भाई तथा पुत्र भी हो सकता है। फिर हम यह कैसे कह सकते हैं, कि—'यह व्यक्ति पिता ही है।' ऐसा कहना और मानना भारी भूल है। बस यही एकान्तवाद है जिससे संसार में कलह और वैमनस्य का प्रसार होता है। यदि हम 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करना सीख लें, तो कलह एवं वैमनस्य की आशंका ही न रहे। 'भी' का प्रयोग करते हुए हम कहेंगे कि—यह पिता भी है। यही अपेक्षावाद है इसी को हम अनेकान्तवाद कहते हैं।

इस सम्बन्ध में अनेक स्याद्वाद विद् विद्वानों का ऐसा कथन है कि मानव-जीवन को सरस एवं शान्तिमय बनाने के लिए जीवन में स्याद्वाद का उपयोग करना

तथा अनिवार्य है। वयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय अशान्ति का मूल कारण ही है अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस आग्रह और अपनपन के भाव को मन और मस्तिष्क में स्थान न देना ही स्याद्वाद है। यदि मानव-समाज आज स्याद्वाद की व्यापक एवं उदार-दृष्टि से विचार करना सीख जाए तो निश्चय ही हम अपने जीवन को सरस सुन्दर तथा उदात्त बना सकते हैं।

१२

सप्त-भंगी

जैन-दर्शन में जितना महत्त्व स्याद्वाद को माना गया है और बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैसा उपयोग स्याद्वाद का किया जाता है उतना ही महत्त्व और उपयोग सप्तभंगी का भी माना गया है। सप्तभंगी एक बहुत महान् सिद्धान्त है जो वस्तु के धर्म पर अवलम्बित रहता है। सप्तभंगीवाद, नयवाद और प्रमाणवाद—ये सब स्याद्वाद रूपी दुर्ग के संरक्षक हैं। स्याद्वाद रूपी दुर्ग पर अधिकार करने के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि अधिकार की कामना करने वाला सर्वप्रथम इन तीन प्रवेशद्वारों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले।

वस्तुतः किसी प्रश्न के उत्तर में या तो हम हाँ बोलते हैं या नहीं। इसी हाँ और नहीं के औचित्य के आधार पर सप्तभंगीवाद की रचना हुई है। सप्तभंगी का सामान्य अर्थ है— वचन के सात प्रकारों का एक समुदाय। किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते

हुए सात प्रकार से वचनो का प्रयोग किया जा सकता है। वे सात वचन इस प्रकार हैं—

१ है
२ नही
३ है और नही
४ कहा नही जा सकता
५ है, परन्तु कहा नही जा सकता
६ नहीं है परन्तु कहा नही जा सकता
७ है और नही परन्तु कहा नही जा सकता

परिभाषा— प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्त भगी।

अर्थात्—प्रश्न के अनुसार एक ही वस्तु मे विरोध रहित विधि और प्रतिषेध की कल्पना को सप्त भगी कहते हैं। किसी भी पदार्थ एव वस्तु के विषय मे सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं इसीलिए सप्त भगी कही गई है। सात प्रकार के प्रश्नो का कारण है—सात प्रकार की जिज्ञासा और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है— सात प्रकार के सशय तथा सात प्रकार के सशयो का कारण है—उसके विषय-रूप वस्तु के धर्मो का सात प्रकार से होना।

अस्तु इस परिभाषा या लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्त भगी के सात भग केवल शाब्दिक कल्पना

हो रहा है अपितु वस्तु के धर्म विशेष पर आश्रित है। इसलिए सप्त भंगी का अध्ययन मनन और चिन्तन करते समय इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि उसके प्रत्येक भंग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सम्बद्ध हो। यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना आवश्यक हो तो उसे इस प्रकार दिखलाना चाहिए जिससे कि उन धर्मों का स्थान उस वस्तु में से विलुप्त न हो जाए।

मान लीजिए आप घट में नित्यत्व का स्वरूप दिखलाना चाहते हैं तो आपको घट के नित्यत्व का बोध कराने के लिए कोई ऐसा उपयुक्त शब्द प्रयोग करना होगा जो घट में रहने वाले नित्यत्व धर्म का बोध तो कराए किन्तु अन्य अनित्यत्व आदि धर्मों का विरोध न करे। यह काम सप्त भंगों के द्वारा ही हो सकता है।

यथा—स्याद् नित्य एव घट अथवा स्याद् अनित्य एव घट — अर्थात् घट नित्य भी है और अनित्य भी। द्रव्य दृष्टि से वह नित्य है और पर्याय-दृष्टि से अनित्य।

अस्तु, अब इसी उदाहरणीभूत घट पर सप्त भङ्गों की वचन प्रयोग शैली इस प्रकार होगी—

१ स्याद् नित्य एव घट

२ स्याद् अनित्य एव घट

३ स्याद् नित्यानित्य एव घट
४ स्याद् अवक्तव्य एव घट
५ स्याद् नित्य अवक्तव्य एव घट
६ स्याद् अनित्य अवक्तव्य एव घट
७ स्याद् नित्यानित्य अवक्तव्य एव घट

किसी भी पदार्थ के विषय में उक्त सात प्रकार से ही प्रश्न हो सकते हैं। अत आठवाँ नवाँ या दसवाँ भङ्ग नहीं बन सकता। इसीलिए 'सप्त भङ्गी' में सप्त पद बिल्कुल सार्थक एव अवधारणा मक है अर्थात्—सात ही भङ्ग हैं, कम या अधिक नहीं। उक्त सात वचन प्रयोगों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ घट, द्रव्य अपेक्षा से नित्य है।

२ घट पर्याय अपेक्षा से अनित्य है।

३ घट क्रम विवक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी।

४ घट अवक्तव्य है, अर्थात्—युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य भी है।

उक्त चार वचन प्रयोगों पर से पिछले तीन वचन और बनाए जाते हैं। यथा —

५ द्रव्य अपेक्षा से घट नित्य होने के साथ साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

६ पर्याय अपेक्षा से घट अनित्य होने के साथ-साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

७ द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से घट क्रमशः नित्य और अनित्य होने के साथ साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है। पिछले तीन वचन प्रयोग अवक्तव्य रूप चतुर्थ भंग के साथ पहला दूसरा और तीसरा मिलाने से बनते हैं। अतः वास्तव में मुख्य रूप से तीन ही भङ्ग हैं।

सप्त भंगी के विषय में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है और वह है—भङ्गों के क्रम में मतभेद का उत्पन्न होना। कुछ ग्रन्थकार 'अवक्तव्य' को तीसरा और नित्यानित्य को चतुर्थ भङ्ग के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु अन्य आचार्य नित्यानित्य को तीसरे और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भङ्ग के रूप में स्वीकार करते हैं। इस क्रम भेद में दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों सम्प्रदायों के आचार्य सम्मिलित हैं। यद्यपि दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस प्रकार अपने अपने ग्रन्थों में भिन्न भिन्न विकल्प क्रम को स्थान दिया है परन्तु इस क्रम भेद से वस्तुस्थिति में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं दिखाई देता है।

सप्त भंगी का सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ है और पारस्परिक कलह को दूर करने वाला, समस्त वस्तु-स्वरूप का वाचक ज्ञान प्रयोग है। यदि इस सिद्धान्त को

दैनिक व्यवहार में अपना लें तो निश्चय ही हमारी साम्प्रदायिक मोह ममता दूर हो सकती है। जिस भाँति जैनों ने अहिंसा को सक्रिय रूप दे दिया है उसी भाँति यदि हम 'स्याद्वाद' और 'सप्त भङ्गी' को भी अपने जीवन व्यवहार में सक्रिय रूप दे दें तो हमारा समाज सुसंगठित एवं सुदृढ़ हो सकता है। हम एक न हो सकेंगे ऐसी कोई असम्भव बात नहीं है। हाँ एकता के लिए अपनी अपनी तथ्य हीन मान्यताओं और निराधार धारणाओं का परित्याग अवश्य ही करना होगा।

१३

नय-वाद

दृष्टिकोण—मानव का स्वस्थ एवं व्यापक-दृष्टिकोण ही उस सत्य की ओर ले जाता है। सत्य—विशाल व्यापक, अनन्त और अखण्ड होता है। परन्तु सामान्यतः मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप में जान नहीं पाता। खण्ड रूप में अथवा अनेक अंशों में ही वह वस्तु का परिबोध कर पाता है। सत्य के परिज्ञान के लिए तथा ज्ञात सत्य को जीवन के समतल पर उतारने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता भी है।

व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी—जीवन विकास का यह क्रम पद्धति है। जैन-दर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्त दृष्टि, जैन-धर्म का सर्व-सहिष्णु अहिंसा सिद्धान्त और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद—ये तीनों मिलकर एक ही कार्य करते हैं। और वह कार्य यह है कि—व्यष्टि अपनी क्षुद्र सीमा में बद्ध न हो जाए, समष्टि व्यक्ति के विकास मार्ग में चट्टान बनकर उसके विकास को अवरुद्ध न

अपितु एक दूसरे से समझौता करके दोनों परमेष्ठी के रूप में परिणत हो जाएँ परम ज्योति बन जाएँ।

वस्तु-तत्त्व—इस शुभकर एवं सर्वहितकर विशाल दृष्टिकोण को जीवन में ढालने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना भी आवश्यक है। चेतन अचेतनमय इस जगत की प्रत्येक वस्तु सत् है, शाश्वत है और अनन्त है। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वह कभी नहीं रही यह नहीं कहा जा सकता। वह कभी नहीं रहेगी—यह नहीं कहा जा सकता। वह नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता। कहा यह जाएगा कि—वह था, वह है और वह रहेगी। भूत वर्तमान और भविष्यमाण—इन तीनों कालों में कभी उसका अभाव नहीं होता।

हाँ तो वस्तु सत् है, शाश्वत है और नित्य है—परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं परिणामी नित्य है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम और उत्तर-पर्याय का उत्पाद होता रहता है।

अस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य है विगम और उत्पाद की दृष्टि से अर्थात्—पर्याय-दृष्टि से परिणामी प्रतिक्षण बदलने वाली भी है। कनक के कंगन को तोड़कर उसका मुकुट बनवा डाला। हुआ क्या? आकृति बदल गई

परन्तु उसका कथन नहीं करता। वह भी उसी का एक ही रहा। अतः यह भी एक नय का है। सिद्धान्त यह रहा कि— [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

प्रमाण और नय—अनन्त-धर्मात्मक वस्तु का परिज्ञान दो से होता है—प्रमाण से और नय से। अनन्त-धर्मात्मक वस्तु-तत्त्व के समग्र धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला ज्ञान—प्रमाण होता है। और उन धर्मों में से किसी एक ही धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान—नय कहा जाता है।

[illegible] का ज्ञान—प्रमाण है क्योंकि इसके द्वारा [illegible] रस स्पर्श और [illegible] तथा कठिन उष्ण आदि समग्र धर्मों का परिचय हो जाता है। परन्तु जब यह कहा जाता है—इसका [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] धर्मों में [illegible] का ही परिज्ञान हुआ है, उसके अन्य धर्म—रस गन्ध और स्पर्श आदि का नहीं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के परिज्ञान में [illegible] [illegible]—यही वस्तुतः नय है। अतः [illegible] के बिना एक अंश का ज्ञान नय और सर्वांश का ज्ञान प्रमाण होता है।

नयवाद— नयवाद वस्तुतः जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट विचार-पद्धति है। जैन-दर्शन प्रत्येक वस्तु

विश्लेषण नय से करना है। जैन दर्शन में एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नहीं जो नयशून्य हो। विशेषावश्यक भाष्य में यह तथ्य इस प्रकार है—

'नत्थि नएहिं विहूण
सुत्तं अत्थो य जिण-मए किंचि।'

जैन दार्शनिकों के समक्ष एक बड़ा ही जटिल प्रश्न, साथ ही गम्भीर भी था कि—नय क्या है? नय प्रमाण है अथवा अप्रमाण? यदि वह प्रमाण है तो प्रमाण से भिन्न क्या? और यदि वह अप्रमाण है, तो वह मिथ्या ज्ञान होगा। और मिथ्या ज्ञान के लिए विचार-जगत में क्या कहां स्थान होता है?

इन प्रश्नों का मौलिक समाधान जैन दार्शनिकों ने बड़ी गम्भीरता और सतर्कता से किया है। वे अपनी तर्क शैली में कहते हैं—

नय, न तो प्रमाण है, और न अप्रमाण। परन्तु प्रमाण का एक अंश है। सिंधु का एक बिन्दु न तो सिंधु है और न असिंधु—अपितु वह सिंधु का एक अंश है। एक सैनिक को सेना नहीं कह सकते परन्तु उसे असेना भी तो नहीं कह सकते, क्योंकि वह सेना का एक अंश तो है ही। नय के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

प्रमाण का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय है उस वस्तु का एक अंश।

यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश (धर्म) को ग्रहण करता है तो वह मिथ्या ज्ञान ही रहेगा। फिर उसके द्वारा वस्तु का यथार्थ बोध कैसे होगा?

इस प्रश्न का उत्तर भी जैन दार्शनिकों ने अपनी उसी सत्य-मूलक तर्क-शैली पर दिया है—

'नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है यह सत्य है। परन्तु इतने मात्र से ही वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता। एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंशों का निषेधक हो जाए तभी वह मिथ्या होगा। किन्तु जो अंश ज्ञान, अपने से व्यतिरिक्त अंशों का निषेधक न होकर, केवल अपने दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है तो वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता।

हाँ, जो नय अपने स्वीकृत अंश का प्रतिपादन करते हुए यदि अपने से भिन्न दृष्टिकोण का निषेध करते हैं तो निस्सन्देह वे नयाभास, किंवा दुर्नय बन जाएँगे। परस्पर निरपेक्ष नय दुर्नय हैं और सापेक्ष सुनय हैं।

नयों की संख्या—यद्यपि नय अनन्त हैं, क्योंकि वस्तु के धर्म भी अनन्त हैं फिर भी नयों के मूल में दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अभेदगामिनीदृष्टि को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और भेदगामिनीदृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नयों में नैगमादि तीन द्रव्यार्थिक हैं, और ऋजुसूत्र आदि चार पर्यायार्थिक हैं।

१४
प्रमाण

किसी भी वस्तु का परिबोध करना यह एक मात्र आत्मा के ज्ञान गुण का कार्य है। इस दृष्टि से ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। जैन-दर्शन ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य इन्द्रिय आदि जड़ उपकरणों को प्रमाणत्वेन स्वीकार नहीं करता।

प्रमाण—जिसके द्वारा वस्तु-तत्त्व का संशयादिव्यवच्छेदेन यथार्थ परिबोध किया जाता है, वह प्रमाण है।[1]

जो ज्ञान स्वयं अपने आपको और अपने से भिन्न अन्य वस्तुओं का भी सम्यग् रूप से निश्चय करता है, वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है।[2]

१—प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते ज्ञायते वस्तु-तत्त्वं येन तत् प्रमाणम्।

२—स्व पर-व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।
—प्रमाण

पदार्थ के सम्यक् निर्णय को प्रमाण कहते हैं।[1] अर्थात् जिस ज्ञान मे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय—इन तीनो दोषो मे से एक भी दोष न हो वह ज्ञान ही वस्तुत प्रमाण है।

जो ज्ञान स्व और पर का प्रकाशक है तथा संशय आदि बाध दोष से रहित है वह प्रमाण है।[2]

एक आचार्य ने तो बहुत सीधे सादे शब्दो मे प्रमाण की सरलतम व्याख्या कर दी है—

सम्यग्ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है।[3] जो ज्ञान यथार्थ नही है वह प्रमाण भी नही है।

उपर्युक्त सभी व्याख्याओ में शब्द भेद तथा शैली भेद अवश्य है, किन्तु भाव भेद नही है। सभी जैनाचार्य सम्यग् ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। और सम्यग् ज्ञान वही है जो स्व-पर का प्रकाशक है। जैन-दर्शन ने तो ज्ञान का अर्थ

१—सम्यगर्थ निर्णय प्रमाणम्।

—प्रमाण मीमांसा १ १ २

२—प्रमाण स्व-पराभासि, ज्ञान बाध विवर्जितम्।

—न्यायावतार श्लोक १

३—सम्यग्ज्ञान प्रमाणम्।

—न्याय दीपिका

मानना है, और न ज्ञानान्तरग्राह्य हो। इसके लिए प्रायः सभी जैन दार्शनिक दीपक का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक न अप्रकाश्य होता है और न किसी दूसरे दीप के द्वारा प्रकाश्य अपितु वह स्वतः प्रकाशमान है। वह घट-पट आदि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं अपने आपको भी। इसी प्रकार सम्यग् ज्ञान भी जिसे प्रमाण कहते हैं स्वपरावभासि माना जाता है।

प्रमाण के भेद—आगमों में प्रायः सर्वत्र प्रमाण शब्द से पंचविध ज्ञान का ही ग्रहण किया गया है। परन्तु कहीं कहीं तर्क पद्धति से भी प्रमाण का वर्गीकरण स्वीकृत है। प्रमाण शब्द से वहाँ जिन चार प्रमाणों का सग्रहण है वे चार प्रमाण [1] इस प्रकार हैं—

प्रत्यक्ष—अक्ष शब्द का अर्थ—आत्मा भी होता है, और इन्द्रिय भी। इन्द्रियों की सहायता के बिना जो ज्ञान

१—पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।

—भ० सू० श० ५, उ० ४

पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे, आगमे।

—अनुयोगद्वार सूत्र प्रमाणद्वार

सीधा आत्मा से होता है वह प्रत्यक्ष है। इस व्याख्या के अनुसार प्रत्यक्ष के तीन भेद होते हैं—

१ अवधि ज्ञान।
२ मन पर्याय ज्ञान।
३ केवल ज्ञान।

इन्द्रियो की सहायता से होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है। इसको इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। परन्तु यह व्याख्या व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से है, निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से नहीं। निश्चय दृष्टि से तो तीन ज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं। व्यवहार की दृष्टि से माने गए इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष के छह भेद इस प्रकार हैं—

१ स्पार्शन
२ रासन
३ घ्राण
४ चाक्षुष,
५ श्रोत्र,
६ मानस।

अनुमान— साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[1] जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान करना।

१—साधनात साध्य विज्ञानमनुमानम।
—प्रमाण मीमांसा १-२-७

उपमान—जिसके द्वारा सादृश्य के आधार पर उपमेय पदार्थों का ज्ञान होता है, वह उपमान प्रमाण है। जैसे गवय गाय के सदृश होता है।

आगम—आप्त वचन के द्वारा होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम प्रमाण कहा जाता है। अथवा आप्त पुरुष के वाक्य को भी उपचार से आगम कहा जा सकता है।[1]

नन्दी सूत्र में पञ्चविध ज्ञान के दो विभाग किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष के दो भेद—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के पांच भेद और नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेद किए हैं।

परोक्ष के दो भेद—आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुत ज्ञान।

इस प्रकार आगमों में प्रमाण अर्थात् ज्ञान का अनेक शैलियों से निरूपण किया गया है।

दार्शनिक पद्धति—आगमोत्तर साहित्य में सर्व प्रथम तत्त्वार्थ-सूत्र आता है उसमें भी परिष्कृत रूप में आगम

१—आप्त-वचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः,
—प्रमाणनय तत्त्वालोक, ४-१
उपचारादाप्त वचन च

पद्धति को मुख्य रखकर प्रमाण का विशद विवेचन किया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र में पंचविध ज्ञान को दो प्रमाणों में विभक्त किया गया है—परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप में।[1]

परोक्ष में मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान तथा प्रत्यक्ष में अवधि, मन पर्याय और केवल ज्ञान का समावेश किया गया है। इस प्रकार पाँच ज्ञान दो प्रमाणों में समा जाते हैं।

१—तत्प्रमाणे १–१०
आद्ये परोक्षम्, १–११
प्रत्यक्ष मन्यत्, १–१२
—तत्त्वार्थ सूत्र

१५

प्रमाण का विषय

प्रमाण ज्ञान है। जो ज्ञान है, वह विषयी होता है। प्रमाण का विषय क्या है? जैन-दर्शन के अनुसार प्रमाण का विषय है— द्रव्य एवं पर्याय से युक्त वस्तु।[1]

प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।[2] वस्तु पदार्थ तथा द्रव्य—ये सभी पर्याय-वाचक शब्द हैं। प्रत्येक वस्तु में उत्पाद और व्यय की धारा प्रतिक्षण प्रवाहित होती रहती है। नवीन पर्यायों का उत्पाद तथा वर्तमान पर्यायों का व्यय सदा होता ही रहता है। फिर भी प्रत्येक वस्तु द्रव्य-रूप में स्थिर है। जैसे कुण्डल का कटक और कटक का हार। ये सभी रूपान्तर होते हुए भी कुण्डल

१—प्रमाणस्य विषयो द्रव्य-पर्यायात्मकं वस्तु

—प्रमाण-मीमांसा, १-१-३१

२—उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्

—तत्त्वार्थ सूत्र ५. २९

घटत्व और हार में सुवर्णत्व अक्षुण्ण है। जैन-दर्शन में प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय की दृष्टि से अनित्य है तथा द्रव्य दृष्टि से नित्य है।

द्रव्य—द्रव्य की व्युत्पत्ति यह है कि— द्रवति तान् तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यम्। अर्थात् जो प्रतिक्षण नये-नये पर्यायों को प्राप्त करता रहता है वह द्रव्य है।

गुण एवं पर्याय के आश्रय को द्रव्य कहते हैं।[1] गुण और पर्याय आधेय हैं तथा द्रव्य उनका आधार है।

प्रत्येक द्रव्य अपने मूल रूप में शाश्वत है, परन्तु उत्पाद व्यय रूप से परिणामी भी है। अतः जिन शासन में प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है। द्रव्य के छः भेद हैं—

१ धर्म
२ अधर्म
३ आकाश
४ काल
५ जीव,
६ पुद्गल।[2]

१—गुण-पर्यायवद् द्रव्यम् —तत्त्वार्थ सूत्र, ५-३७

२—धम्मो अहम्मो आगासं
कालो पुग्गल-जन्तवो।
—उत्तराध्ययन अ० २८ ७

गुण— जो सदा द्रव्य में रहते हैं और जो स्वयं गुण रहित हैं वे गुण हैं। [१]

यद्यपि पर्याय भी द्रव्य के आश्रित हैं और निर्गुण हैं, तथापि वे उत्पाद व्यय शील होने से द्रव्य में सदा नहीं रहते। परन्तु गुण तो नित्य होने से सदा द्रव्याश्रित होते हैं। गुण और पर्याय में यही मौलिक अन्तर है।

वस्तु का जो सह भावी धर्म है वह गुण होता है। [२] जैसे आत्मा एक द्रव्य है वस्तु है और ज्ञान एक गुण है। ज्ञान-गुण सदा काल आत्मा में रहता है। एक भी क्षण ऐसा नहीं है जिस समय आत्मा में ज्ञान-गुण न रहता हो। ज्ञान, दर्शन आदि गुण आत्मा के शाश्वत धर्म हैं।

पर्याय—द्रव्य और गुण की जो प्रत्येक अवस्थाएं उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं वे पर्याय हैं। [३]

१—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः
—तत्त्वार्थ सूत्र ५-४०

२—गुण सह भावी धर्मो यथाऽऽत्मनि विज्ञान ।
—प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ५ ७

३—तद् भाव परिणाम
—तत्त्वार्थ सूत्र ५-४१

षट् द्रव्यों में एक भी ऐसा द्रव्य नहीं है, जिसके पर्याय न हो। गुणों में एक भी ऐसा गुण नहीं है जिसके पर्याय न हो। इसलिए पर्याय के दो भेद हो जाते हैं। जैसे—

१—द्रव्य पर्याय,

२—गुण-पर्याय।

पर्याय सदा क्रम भावी होता है।[1] क्योंकि वह उत्पाद-व्यय शील होता है। जैसे—आत्मा द्रव्य है, और सुख दुःख हर्ष तथा विषाद उसके पर्याय हैं। क्योंकि हर्ष और विषाद आदि अवस्थाएँ आत्मा में सदा काल नहीं रहती हैं। जब हर्ष होता है तब विषाद नहीं होता है और जब विषाद होता है तब हर्ष नहीं होता है। अतः क्रम भावी होने से ये सब पर्याय हैं।

१—पर्यायस्तु क्रमभावी यथा तत्रैव सुख-दुःखादि।

—प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ५-८

१६

निक्षेप

एक-दूसरे के विचारों के आदान प्रदान का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रसंग वशात् अथवा प्रयोजनवशात् अनेक अर्थों को अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ तो अवश्य ही होते हैं। इस अर्थ विभाग को ही शास्त्रीय परिभाषा में निक्षेप कहते हैं।

निक्षेप का अर्थ है—रखना आरोप करना।[1] निक्षेप न्यास दोनों पर्याय-वाचक शब्द हैं।[2]

प्रतिपाद्य वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए नाम स्थापना आदि भेदों द्वारा वस्तु का विवेचन करना निक्षेप है।

१—न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेपः

—राजवार्तिक

२—न्यासो निक्षेपः

—तत्त्वार्थ

वस्तु तत्व का स्पष्ट निरूपण करना यही तो निक्षेप का मुख्य प्रयोजन है।

नय और निक्षेप का अन्तर

प्रश्न—नय और निक्षेप में क्या अन्तर है?

उत्तर—नय ज्ञानात्मक है, उससे ज्ञेय वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिए पदार्थ के साथ उसका विषय विषयी भाव सम्बन्ध है।

शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है। इस वाच्य वाचक सम्बन्ध में स्थापन की क्रिया ही निक्षेप है। यह वाच्य वाचक सम्बन्ध और उसकी क्रिया नय से जानी जाती है। अतः निक्षेप भी नय का विषय है। सार यह है कि नय और निक्षेप में विषय विषयी भाव है। निक्षेप विषय है और नय विषयी है।

निक्षेपों में नय-योजना

नाम स्थापना और द्रव्य—इन तीनों में किसी न किसी प्रकार का अभेद रहने से ये तीनों द्रव्यास्तिक नय के विषय हैं। भाव निक्षेप में भेद रहने से वह पर्यायास्तिक नय का विषय है।[1]

१—नाम ठवणा दविएत्ति, एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठियस्स परूवणा एस परमत्थो॥
—सन्मति प्रकरण १—६

निक्षेपों के भेद

१ नाम—लोक-व्यवहार के लिए किसी दूसरे गुण आदि निमित्त की अपेक्षा न रखकर किसी पदार्थ की कोई संज्ञा रखना नाम निक्षेप है।

यथा—किसी बालक का नाम महावीर रखना। कुछ नाम गुण के अनुसार भी होते हैं। परन्तु नाम निक्षेप गुण की अपेक्षा नहीं करता।

२ स्थापना—प्रतिपाद्य वस्तु के सदृश अथवा विसदृश आकार वाली वस्तु में प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना। यह स्थापना निक्षेप है।

यथा—जम्बू द्वीप के चित्र को जम्बू द्वीप कहना। शतरंज के मोहरों को हाथी घोड़ा वजीर और बादशाह आदि के नाम से कहना।

३ द्रव्य—किसी पदार्थ की भूत और भविष्यत् कालिक पर्याय के नाम का वर्तमान काल में व्यवहार करना। यह द्रव्य निक्षेप है।

यथा—जो भूत काल में राजा था। परन्तु अब नहीं है। उसे वर्तमान में राजा कहना और जो वर्तमान में तो युवराज ही है परन्तु उसे वर्तमान में ही राजा कहना।

४ भाव—वर्तमान पर्याय के अनुसार वस्तु में उस शब्द का प्रयोग करना। यह ~ ~ है।

यथा—राज्य करते हुए को राजा कहना। पूजा करते हुए को पुजारी कहना। सेवा करते हुए को सेवक कहना।

प्रयोजन

जिस प्रकार प्रमाण और नय से वस्तु का परिज्ञान होता है उसी प्रकार निक्षेप भी प्रतिपाद्य वस्तु के स्वरूप को समझने का एक साधन है। निक्षेपों में विभक्त वस्तु स्पष्टतर हो जाती है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने प्रमाण और नय के बाद निक्षेपों का भी विशद वर्णन किया है। यहाँ पर केवल दिशा-दर्शन मात्र ही किया गया है।

उपसंहार

ग्रन्थ हुआ सम्पूर्ण, किन्तु कुछ,
फिर भी कहना बाकी है।
यह परिशिष्ट चूलिका इसमें,
शिष्ट सत्य की झाकी है।।

१७

अनेकान्त के व्याख्याकार

भारतीय दर्शन के विशाल-क्षेत्र में एक ओर शून्यवादी बौद्ध और विज्ञानवादी बौद्ध अपने अपने तर्कों से अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करने में संलग्न थे और दूसरी ओर कर्मकाण्डी मीमांसक, ज्ञानवादी वेदान्ती और तत्त्ववादी नैयायिक अपने वेद, उपनिषद् एवं वेदान्त के सिद्धान्तों की धाक से जन मानस में जड़ जमा रहे थे। बौद्ध दर्शन एकान्त क्षणिकवाद का और वेदान्त दर्शन एकान्त नित्यवाद का प्रबल प्रचार कर रहा था। उस समय का भारत विचार संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ था। अपने अभीष्ट मत की पुष्टि के लिए शास्त्रार्थ किए जाते थे। बौद्ध दार्शनिक वैदिक परम्परा पर कठोर प्रहार करते थे, तो इधर वैदिक दार्शनिक भी बौद्ध विचार धारा पर निर्मम होकर प्रहार करते थे। विग्रह ने विवाद का रूप ले लिया था और विचार बुद्धि का विलास बन रहा था। सत्य क्या है? इसके अनुसन्धान की चिन्ता नहीं थी। चिन्ता थी,

केवल अपनी मान्यता को सत्य सिद्ध कर देने की। यह कार्य तर्क से होता तो तर्क से अन्यथा मन्त्र तन्त्र एव यन्त्र का प्रयोग करते थे। उनके सामने एक मात्र लक्ष्य था—अपने विरोधी को हरान का।

जैन परम्परा में आचार्यों से भारत का यह बौद्धिक और नैतिक पतन देखा नहीं गया। ये लोग विद्या की साधना तो करते थे, पर विवाद में पड़ना पसन्द नहीं करते थे। सत्य के अनुसन्धान में तो इनको रस था, पर अपनी मान्यता को ही सत्य सिद्ध करने की भावना इन लोगों में न थी। जो सत्य है उसे स्वीकार करो और जो असत्य है उसका परिहार करो—भले ही यह अपना ही क्या न हो? जय और पराजय में उनकी अभिरुचि न थी। हाँ सत्य को स्वीकार करने में वे कभी प्रमाद नहीं करते थे क्योंकि भगवान् महावीर से उन्हें अनेकान्त दृष्टि मिल चुकी थी फिर वे एकान्त की ओर कब झुकते? एकान्तवाद में उनका मन कैसे रमता? अत अनेकान्तमयी दृष्टि लेकर वे लोग विभिन्न विचारों का समन्वय करने के लिए दार्शनिक रंगमंच पर आए। दोनों पक्षों के सत्य अंश की उन्होंने प्रशंसा की, और असत्य अंश को मानने से इन्कार कर दिया। जैन परम्परा के आचार्यों ने स्पष्ट घोषणा की—

भगवान् महावीर के प्रति हमारा राग नहीं है और

कपिल आदि के प्रति हमारे मन में द्वेष नहीं है क्योंकि भगवान् ने हमें अनेकान्तमयी दृष्टि दी है। अनेकान्त की कसौटी पर जो खरा है, जो सत्य है वह सब हमें स्वीकार है—भले ही वह अपना हो या पराया हो?

आचार्य सिद्धसेन—भगवान् महावीर से प्राप्त अनेकान्त, स्याद्वाद एवं नयवाद का आधार लेकर आचार्य सिद्धसेन ने विभिन्न विचारों का समन्वय किया। अपने समन्वयात्मक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए सिद्धसेन ने प्राकृत भाषा में सन्मति तर्क ग्रन्थ की और संस्कृत में 'न्यायावतार' एवं अनेक द्वात्रिंश-द्वात्रिंशिकाओं की रचना की।

सन्मति तर्क में नयवाद का बहुत ही विलक्षण शैली से प्रतिपादन किया गया है। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में द्रव्य दृष्टि और पर्यायदृष्टि पर महत्त्वपूर्ण विचार रखा है। द्वितीय काण्ड में ज्ञान और दर्शन पर बड़ी लम्बी चर्चा की है। तृतीय काण्ड में गुण और पर्याय पर अच्छा विचार किया है। न्यायावतार में प्रमाण, प्रमेय एवं संक्षेप में नय पर भी विचार किया गया है। परन्तु इसका मुख्य विषय प्रमाण है। द्वात्रिंशिकाओं में विभिन्न दार्शनिक विषयों पर चिन्तन और मनन किया

जैन परम्परा में और जैन-दर्शन के इतिहास में निश्चय ही आचार्य सिद्धसेन ने नया युग स्थापित किया है, जिसको हम अनेकान्त-युग भी कह सकते हैं।

आचार्य समन्त भद्र—जैन दार्शनिकों में आचार्य समन्त भद्र का स्थान भी बड़ा महत्वपूर्ण है। स्याद्वाद की सिद्धि के लिए समन्त भद्र ने बड़ा ही गौरवमय काम किया है। अनेकान्त दृष्टि का मन्थन बड़ी गम्भीरता से सम्पन्न किया है।

आचार्य समन्त भद्र स्याद्वाद का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर शैली में करते हैं। अन्य दर्शनों की एकान्त-दृष्टि दिखा कर अनेकान्त में उनका समन्वय कर देना आचार्य की शैली की विलक्षणता है। इन्होंने अनेक दार्शनिक कृतियों की रचना की है उनमें स्वयम्भू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन और आप्त मीमांसा मुख्य हैं।

आचार्य हरिभद्र—हरिभद्र अपने युग के एक महान् दार्शनिक विद्वान थे। इन की कृतियों में खण्डन की अपेक्षा समन्वय अधिक होता है। यदि कहीं पर खण्डन आवश्यक भी हो तो बहुत ही कोमल भाषा में। हरिभद्र ने बहुत से विषयों पर लिखा है—आगम, दर्शन, योग, धर्म और कथायें। अनेक भाषाओं में लिखा है—संस्कृत में एवं प्राकृत में

परन्तु इनका मुख्य विषय था —अनेकान्त स्याद्वाद। अनेकान्त पर 'अनेकान्तवाद' प्रवेश एवं अनेकान्त जय पताका इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं जिन में अनेकान्त का बहुत तर्क-पूर्ण प्रतिपादन किया है। शास्त्र वार्ता समुच्चय और षड दर्शनसमुच्चय हरिभद्र की समन्वय भावना के सुन्दर और चिरस्मरणीय प्रतीक हैं। विभिन्न विचारों में समन्वय की खोज करना—हरिभद्र की विशेष देन है।

आचार्य अकलंक—अकलंक ने मुख्य रूप से प्रमाण शास्त्र पर अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की है। उनके मुख्य ग्रंथ इस प्रकार है— प्रमाण-संग्रह लघीयस्त्रयी और न्याय विनिश्चय।

परन्तु प्रमाण पर चिंतन करते हुए भी अकलंक अनेकान्त दृष्टि का ही प्रधानता देते हैं। आप्त-मीमांसा की अष्टशती टीका में और सिद्धिविनिश्चय में अकलंक ने अनेकान्त का खुलकर प्रतिपादन किया है। तर्क की नयी शैली में उपस्थित करने में वे बड़े सिद्ध-हस्त हैं। अनेकान्त दृष्टि को लेकर अकलंक ने अनेक ग्रंथों की रचना की है। कुछ भी कहूं और लिखूं—वे अनेकान्त को नहीं भूलते।

उपाध्याय यशोविजय—जैन परम्परा के विद्वानों में यशोविजय का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने जैन दर्शन को नयी भाषा और नया शैली प्रदान की। अनेकान्त स्याद्वाद,

सप्त भंगी और नयवाद पर बहुत बड़े परिमाण में अनेक ग्रंथों की यशोविजय ने रचना की है। उक्त विषयों के अतिरिक्त प्रमाण, निक्षेप आगम स्तोत्र, योग और अध्यात्म पर आपके सख्या बद्ध ग्रंथ आज भी विद्यमान हैं और वे बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। संस्कृत प्राकृत, गुजराती और हिन्दी मारवाड़ी—इन चार भाषाओं में गद्य और पद्य में अनेक ग्रंथों का गुम्फन किया है।

जैन तर्क भाषा नय रहस्य, नयोपदेश आदि ग्रंथों में अनेकान्त दृष्टि का प्रसार बहुत सुन्दर हुआ है। यशोविजय अपने युग के एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान थे। नयवाद पर अनेक ग्रंथों की रचना करके आप ने अनेकान्त और स्याद्वाद की सुन्दर व्याख्या की है। गम्भीर विषय को नव्य न्याय की शैली में व्यक्त करना—आपकी विशिष्ट देन है जिसको इतिहास भुला नहीं सकता।

इस प्रकार अन्य भी बहुत से जैन दार्शनिक हैं जिनका परिचय यहाँ पर नहीं दिया गया है—उन्होंने भी अपने अपने युग में अनेकान्त स्याद्वाद सप्त भंगी और नयवाद पर गम्भीर विचार चर्चा की है सुन्दर व्याख्या की है और अनेक ग्रंथों की रचना की है। परन्तु संक्षेपदृष्टि होने से उनका परिचय यहाँ नहीं दिया जा रहा है फिर भी उनकी श्रुत-सेवा को भुलाया नहीं जा सकता।

अनेकान्त और स्याद्वाद के व्याख्याकारों में सिद्धसेन, समन्तभद्र हरिभद्र अकलंक और यशोविजय ने जो एक विशिष्ट देन दी है वह आज भी गौरव एवं सत्कार के योग्य है। अनेकान्तवाद के ये मुख्य व्याख्याकार हैं। इन्होंने एकान्त क्षणिकवाद का और एकान्त नित्यवाद का सुन्दर समन्वय किया है। अनेकान्त के व्याख्याकारों ने जिस समन्वय परम्परा का प्रारम्भ किया था— वह संसार के लिए सुखद हितकर और मंगलमयी सिद्ध हुई है इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

अनेकान्त वाद यदि सकल निर्वाह कुशल,
मतानि स्पर्धन्त नय-लव समुत्थानि बहुधा ।
तदा किं नो भावी बहुल कलि-कौतूहल वशाद्,
घटाना निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलह ॥

—अनेकान्त व्यवस्था

१८

अनेकान्त विषयक साहित्य

जैन परम्परा में अनेकान्तविषयक साहित्य विपुल मात्रा में और विशाल परिमाण में उपलब्ध है। भाषा की दृष्टि से यह साहित्य संस्कृत, प्राकृत, कन्नड, हिन्दी, गुजराती और मराठी आदि अनेक भाषाओं में लिखा गया है। परन्तु उक्त विषय का अधिकतम भाग संस्कृत भाषा में ही लिखा गया है।

अनेकान्त विषयक सम्पूर्ण साहित्य का परिचय तो यहाँ पर नहीं दिया जा सकता। संक्षेप में ही यहाँ पर कुछ परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

आगमों में अनेकान्त-दृष्टि, स्याद्वाद, सप्तभंगी और नयवाद के विचार यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। सप्तभंगी का उल्लेख तो नहीं है परन्तु तीन भंगों का उल्लेख भगवती सूत्र में स्पष्ट रूप में है। आगमगत मूल विचारों को लेकर भी अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी और

दिया। यहाँ पर संक्षेप में उस विशाल साहित्य सागर के कतिपय जल कणों का ही परिचय दिया जा रहा है, जिससे उक्त विषय की विपुलता और विशालता का अनुमान लगाया जा सके।

ग्रंथ	लेखक	समय
१ सूत्रकृतांग सूत्र		
२ भगवती सूत्र		
३ अनुयोग द्वार सूत्र		
४ स्थानांग सूत्र		
५ समवायांग सूत्र		
६ सन्मति तर्क	सिद्धसेन दिवाकर	वि० २-३ वी शती
७ न्यायावतार	,	वि० ५-६ वी
८ नय चक्र	मल्लवादी	
९ अनेकान्त जय पताका	हरिभद्र	वि० ७-८ वा
१० अनेकान्तवाद प्रवेश		
११ अनेकान्त प्रघट		
१२ त्रिभंगी सार	,	
१३ स्याद्वाद कुचोद्य परिहार	,	
१४ सन्मति टीका	अभय देव	वि० ११ वी
१५ स्याद्वाद रत्नाकर	वादिदेव सूरि	वि० १२ वीं
१६ स्याद्वाद मंजरी	मल्लिषेण	वि० १४ वी
१७ स्याद्वाद कलिका	राजशेखर	वि० १५ वी

ग्रंथ	लेखक	समय
१८ स्याद्वाद माला	शुभ विजय	वि० १७ वीं
१९ नय कर्णिका	विनय विजय	वि० १७ वीं
२० अनेकान्त व्यवस्था	यशो विजय	वि० १८ वीं
२१ जैन तर्क भाषा		—
२२ नय प्रदीप		—
२३ नयोपदेश		—
२४ नय रहस्य		—
२५ अनेकान्त प्रवेश		—
२६ स्याद्वाद मुक्तावली	यशस्वत् सागर	वि० १८ वीं
२७ आप्त-मीमांसा	समन्त भद्र	वि० ४-५ वीं
२८ युक्त्यनुशासन		—
२९ स्वयम्भू स्तोत्र		—
३० न्याय विनिश्चय	अकलंक देव	वि० ७ वीं
३१ सिद्धि विनिश्चय		—
३२ अष्टशती		—
३३ स्याद्वाद सिद्धि	वादीभ सिंह	वि० ८ वीं
३४ अष्टसहस्री	विद्या नन्दि	वि० ९ वीं
३५ नय चक्र	देव सेन	वि० ९९०
३६ आलाप पद्धति		—
३७ स्याद्वादोपनिषत्	सोम देव	वि० ११ वीं

ग्रन्थ	लेखक	समय
३८ सप्तभंगितरंगिनी	विमलदास	—
३९ सप्तभंगी	—	—
४० नय-संग्रह	—	—
४१ नयलक्षण	—	—
४२ नयवाद	मुनि फूलचन्द जी श्रमण	वर्तमान म

१६

दोष परिहार

भारतीय और पाश्चात्य कुछ विद्वान अनेकान्त पर यह आक्षेप करते हैं कि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद स्थिर सिद्धान्त नहीं है क्योंकि उसमें कुछ इधर से ले लिया गया है। और कुछ उधर से ले लिया गया है और फिर उसे जोड़ कर जैन विद्वानों ने एक नया सिद्धान्त खड़ा कर दिया। वस्तुतः यह कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। इस प्रकार के स्याद्वाद सिद्धांत से वस्तु-तत्त्व के स्वरूप का निर्णय होना तो दूर रहा बल्कि उसके विषय में संशय होने लगता है। जैन विद्वानों ने बौद्ध-मत से अनित्यवाद ले लिया तथा सांख्य एवं वेदान्त से नित्यवाद ले लिया। जैन दर्शन ने दोनों को मिलाकर कह दिया कि वस्तु तत्त्व नित्य भी है और अनित्य भी है।

जिन विद्वानों ने भले ही वे भारतीय हों या पाश्चात्य—अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद सिद्धान्त के [illegible] न्याय नहीं किया। उन्होंने उक्त [illegible] भी नहीं किया। [illegible] से

विचार किया होता तो वे लोग कभी भी इस प्रकार का आक्षेप नहीं करते। जैन दर्शन का महान् सिद्धान्त अनेकान्त एवं स्याद्वाद निश्चय ही दार्शनिक जगत का एक सार्वभौम एवं सत्यभूत सिद्धांत है। यह विभिन्न विचारों की मिलन भूमि है। यह विभिन्न विचार-परम्पराओं का समन्वय स्थल है। अनेकान्तवाद का यह अटल सिद्धांत है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु में से किसी एक धर्म का उल्लेख कर देना और दूसरे का निषेध करना—यह एकान्तवाद है इस एकान्तवाद का उत्तर ही वस्तुतः अनेकान्तवाद है। जैन-दर्शन जहाँ सम्पूर्ण सत्य को प्रकट करता है वहाँ अन्य दर्शन सत्य के एक अंश को प्रकट करते हैं। वे सत्य के एक अंश को प्रकट करते हैं इसमें तो कोई बुराई नहीं, लेकिन बुराई इसमें है, कि वे सत्य के एक अंश को सम्पूर्ण सत्य मान बैठते हैं। स्याद्वाद इस मनमाने आग्रह का ही विरोध करता है। अतः अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद उधार लिए हुए सिद्धान्त नहीं बल्कि मौलिक एवं वैज्ञानिक सिद्धांत है जो वस्तु तत्त्व का यथार्थ रूप से प्रतिपादन करते हैं।

२०

अनेकान्त दृष्टि के मूल तत्त्व

जब समस्त जैन विचार और आचार की नींव अनेकान्त दृष्टि ही है तब पहले यह देखना चाहिए कि अनेकान्त दृष्टि किन तत्त्वों के आधार पर खड़ी की गई है? विचार करने और अनेकान्त दृष्टि के साहित्य का अवलोकन करने से मालूम होता है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर खड़ी है। यद्यपि सभी महान् पुरुष सत्य को पसन्द करते हैं और सत्य की ही खोज तथा सत्य के ही निरूपण में अपना जीवन व्यतीत करते हैं तथापि सत्य निरूपण की पद्धति और सत्य की खोज सब की एक-सी नहीं होती। बुद्ध जिस शैली से सत्य का निरूपण करते हैं या शंकराचार्य उपनिषदों के आधार पर जिस ढंग से सत्य का प्रकाशन करते हैं उससे भगवान महावीर की सत्य प्रकाशन की शैली भिन्न है। भगवान् महावीर की सत्य प्रकाशन शैली का ही दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है

और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप में प्रतीत होता है, वही सत्य कहलाता है।

अनेकान्त-दृष्टि का प्रभाव—जब दूसरे विद्वानों ने अनेकान्त दृष्टि को तत्त्व रूप में ग्रहण करने की जगह साम्प्रदायिकवाद के रूप में ग्रहण किया तब उसके ऊपर चारों ओर से आक्षेपों के प्रहार होने लगे। बादरायण जैसे सूत्रकारों ने उसके खण्डन के लिए सूत्र रच डाले और उन सूत्रों के भाष्यकारों ने उसी विषय में अपने भाष्यों की रचनाएँ की। वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित जैसे बड़े-बड़े प्रतिभाशाली बौद्ध विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद की आलोचना की। इधर से जैन विद्वानों ने भी उनका सामना किया। इस प्रचण्ड संघर्ष का अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओर से अनेकान्त दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओर से उसका प्रभाव दूसरे विरोधी साम्प्रदायिक विद्वानों पर भी पड़ा। दक्षिण भारत में दिगम्बराचार्यों और प्रकाण्ड मीमांसक तथा वेदान्ती विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ की कुश्ती हुई, उससे अन्त में अनेकान्त-दृष्टि का ही प्रभाव अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज जैसे जबरदस्त विरोधी आचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्य उपनिषदों का

किया पर उनमें से विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग किया, अथवा यों कहिए कि रामानुज ने अपने ढंग से अनेकान्त-दृष्टि को विशिष्टाद्वैत की घटना में परिणत किया और औपनिषद तत्त्व का जामा पहनाकर अनेकान्त-दृष्टि में से विशिष्टाद्वैतवाद खड़ा करके अनेकान्त दृष्टि की ओर आकर्षित जनता को वेदान्त मार्ग पर स्थिर रखा। पुष्टि-मार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभ जो दक्षिण भारत में हुए, उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व हैं तो औपनिषदिक पर उनकी सारी विचारसरणी अनेकान्त दृष्टि का नया वेदान्तीय प्रारूप है। इधर उत्तर और पश्चिम भारत में जो दूसरे विद्वानों के साथ श्वेताम्बरीय महान् विद्वानों का खण्डन मण्डन विषयक द्वन्द्व हुआ उसके फल स्वरूप अनेकान्तवाद का असर जनता में फैला और साम्प्रदायिक ढंग से अनेकान्तवाद का विरोध करने वाले भी जानते अनजानते अनेकान्त-दृष्टि को अपनाने लगे। इस तरह वाद रूप में अनेकान्त-दृष्टि आज तक जैनों की ही बनी हुई है तथापि उसका प्रभाव किसी न किसी रूप में अहिंसा की तरह समग्र भारत वर्ष के हर एक भाग में फैला हुआ है। इसका प्रमाण सब भागों के साहित्य से मिल सकता है।

जीवित अनेकान्त—इतनी सामान्य भूमिका के बाद अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं। अनेकान्त यह जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त है जो तत्त्व-ज्ञान और धर्म दोनों प्रदेशों में समान रूप से मान्य हुआ है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों शब्द अभी सामान्य रीति से एक ही अर्थ में व्यवहृत होते हैं। केवल जैन ही नहीं, परन्तु जैनेतर बुद्धिमान वर्ग भी जैन-दर्शन व जैन सम्प्रदाय को अनेकान्त दर्शन या अनेकान्त सम्प्रदाय के नाम से पहचानते तथा पहचान कराते हैं। चिरकाल से जैन अपनी अनेकान्त सम्बन्धी मान्यता को एक स्वाभिमान की वस्तु देखते आए हैं, और इसकी भव्यता उदारता तथा सुन्दरता का स्थापन करते आए हैं। यहाँ हमें यह देखना है कि अनेकान्त है क्या वस्तु? और उसकी जीवितता क्या है? तथा वह जीवित अनेकान्त अपनी जैन परम्परा में साम्प्रदायिक दृष्टि से क्या कभी था और क्या अभी है?

वस्तुतः अनेकान्त यह एक प्रकार की विचार-पद्धति है। यह सब दिशाओं से—सब ओर से खुला एक मानस चक्षु है। ज्ञान के, विचार के और आचरण के—किसी भी विषय को वह कभी संकीर्ण दृष्टि से देखने के लिए निषेध करता है और अधिक से अधिक उदारता से अधिक से अधिक दृष्टिकोणों से और अधिक से

अधिक मार्मिक रीति मे—वह सब कुछ विचारने और आचरण करने का पक्षपात रखता है। उसका यह पक्षपात भी केवल सत्य पर ही आश्रित है। अनेकान्त की जीवितता का अर्थ है—उसके आगे-पीछे और भीतर सर्वत्र सत्य का यथार्थता का प्रवाह। अनेकान्त यह केवल कल्पना नहीं है परन्तु सत्य सिद्ध कल्पना के होने से तत्त्व-ज्ञान है और विवेक युक्त आचरण का विषय होने से यह धर्म भी है। अनेकान्त का जीवन इसमें है कि वह जैसे दूसरे विषयों को सब ओर से तटस्थ रूप से देखने विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है उसी प्रकार वह अपने स्वरूप और जीवन के विषय में भी मुक्तमन से ही विचार करने के लिए तैयार रहता है। विचारों की जितनी स्पष्टता और तटस्थता अधिक होती है उतनी ही मात्रा में अनेकान्त का बल या जीवन विशद एवं विकसित होता है।

न समुद्रो-ममुद्रो वा,
समुद्राशो यथोच्यते ।
नाप्रमाण प्रमाण वा,
पमाणाशस्तथा नय ॥

—नयोपदेश

मम्यक् श्रुतस्य मिथ्यात्व,
मिथ्यादृष्टि परिग्रहात् ।
मिथ्या श्रुतस्य सम्यक्त्व,
सम्यग्दृष्टि परिग्रहात् ॥

—नयोपदेश

२१

लोकमत

'जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा। और जो कुछ मैं अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है, कि यदि वे जैन धर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।

—महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा

'जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना अन्य किसी सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है, तो मैं भारत के इस महान् विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस [illegible] आदर की दृष्टि से देखता हूँ।

उन्होंने इस धर्म के स्याद्वाद शास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।

—फणिभूषण

प्रधानाध्यापक दर्शन शास्त्र

स्याद्वाद जैन धर्म का एक अभेद्य किला है, जिसके अन्दर प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते।'

—पण्डित राममिश्र शास्त्री

जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्व ज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।

जर्कोबी (एक जर्मन विद्वान)

न्याय शास्त्र में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। स्याद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

—डा० थामस

प्राचीन ढर्रे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े बड़े शास्त्री अभी तक यह नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। —महावीर प्रसाद जी द्विवेदी

जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूँ, उसी प्रकार मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।'

—महात्मा गांधी